कृति और कृतिकार

[बाणभट्ट की आत्मकथा के संदर्भ में]

लेखक :
डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

अपोलो प्रकाशन
सवाई मानसिंह हाईवे
जयपुर – ३

कृति और कृतिकार

– डा० सरनामसिंह

❋ मूल्य : दस रुपये मात्र

❋ प्रकाशक : विजय बुक डिपो,
जयपुर

❋ मुद्रक : नवलकिशोर, जयपुर

लेखकीय

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में हिन्दी-जगत् को एक अद्भुत साहित्यिक रत्न प्रदान किया है जिसके विविध पहलुओं में विविध प्रकार की ज्योति जगमगा रही है। इस रत्न के प्रकाश में चतुर पाठक अनेक प्रकार की गुत्थियाँ सुलझा सकता है।

मैंने इस कृति को जितनी बार पढ़ा उतने ही बार मुझे अधिकाधिक आनन्द का अनुभव हुआ और मैंने इसे जिस पहलू से देखा उसी ने मुग्ध कर लिया। अनेक पहलुओं से इसे देख कर मैंने जो विचार समय-समय पर संकलित किये हैं वही इस कृति में संगृहीत हैं। इसी कारण संग्रह के अनुबन्ध में आवृत्तियाँ-सी दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका होना स्वाभाविक है। न तो मेरा यह विचार था कि मैं इस कृति पर कुछ लिखूँगा और न ही मैं अपने विचारों को पुस्तक का रूप देने के लिए कभी सचेष्ट था।

बार-बार पढ़ने से आत्मकथा ने मेरे विचारों को प्रेरित किया और अनेक लेख लिख डाले। बहुत से लेख तैयार हो जाने पर उन्हें पुस्तकाकार करने की लालसा बलवती हुई और कुछ कतर-छाँट करके मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप तैयार कर लिया।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मैं अपने आग्रहशील विद्यार्थियों की प्रेरणा का आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि उनके पीछे पड़े बिना मेरे प्रयत्न इस दिशा में प्रेरित न हुए होते। पीछे पड़ने वाले विद्यार्थियों में केदारनाथ शर्मा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। शर्माजी के स्वार्थ ने और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति ने जिस 'साहित्यिक परमार्थ' को प्रेरित किया उसे मेरा 'ब्रह्म' कभी भुला नहीं सकता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हमारे विश्वविद्यालय के वातावरण में बहुचर्चित रही है। सम्बन्धित चर्चा में मेरे बोध को नये-नये परिपार्श्व मिलते रहे हैं। आलोचना के एक अंक ने तो मेरे विचारों को बहुत ही भड़का दिया। कुछ अच्छे अंशों को मैंने उद्धृत भी कर दिया है। 'ऐतिहासिक आधार' में इस प्रभाव को स्पष्ट अवगत किया जा सकता है।

मैं आचार्य द्विवेदीजी के प्रति आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिनके संपर्क ने मुझे उनकी स्वाभाविक और चारित्रिक विशेषताओं से परिचित करा दिया। यदि मैं डा० द्विवेदी के जीवन और स्वभाव से परिचित न होता तो संभवतः इतनी गहराई में डूब कर इसकी थाह न ले पाता। उन्हीं के मुख से उनके जीवन का परिचय पाकर और उन्हीं के पास रहकर उनके स्वभाव की आह्लादकता का लाभ उठाकर विचारों की इस बँधी गठरी को मैं उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

—लेखक

प्रदण कुटीर, जयपुर
२४-१०-५४

अनुक्रमणिका

१. आत्म कथा का प्रयोजन

आलोचक के सामने सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने के लिए क्या प्रेरित हुए ? ध्यान रखने की बात है कि साहित्यकार अपने हृदय—अपनी अनुभूतिमा को अनावृत करने के लिए सदैव लालायित रहता है। अपने भावों को रूपायित करके वह किसी बड़े तोष का प्राप्त करता है। साधारणत सभी लोग अपनी मानसिक सम्पत्ति की अभिव्यक्ति करके तुष्ट होते हैं किन्तु सभी के पास कला-शक्ति नहीं होती है। साहित्यकार के पास कला-शक्ति होने से उसके भाव व्यक्त होने के लिए अधिक मचलते और उद्वेलित होते हैं। जिसको पांडित्य का वरदान प्राप्त हो, जिसका मस्तिष्क और हृदय उर्वर हो, कला जिसकी सहचरी हो वह अपने अन्तर के अनावरण के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पंडित हैं, विद्वान् हैं, उनका मस्तिष्क और हृदय सम्पन्न है। इन गुणों के अतिरिक्त वे एक महान् कलाकार हैं, फिर वे अपने अन्तर की संकलित निधि को प्रकाश म देते, यह उनके लिये कभी सम्भव न था।

अन्यत्र यह कहा गया है कि आचार्य द्विवेदी बाणभट्ट के बड़े प्रशंसक रहे हैं। जो बाण अनेक गुणों में आचार्यजी से मिलता है, जिसकी निर्विकार मस्ती उनकी भोली मस्ती से मिलती है और जिसके पांडित्य से वे अभिभूत हो चुके हैं, उसकी शैली के प्रति उनका कितना आदर रहा होगा, यह बात कहने की नहीं, वरन् उनकी शैली को देख कर समझने की है। बाण की शैली हिन्दी म क्यों नहीं लाई जा सकती, आचार्य द्विवेदीजी ने 'आत्मकथा' में मानो इसी आशय को व्यक्त करने वाला उत्तर दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आत्मकथा' की गद्य-शैली बाण की शैली से बहुत मिलती है। बाणभट्ट की गद्य शैली के जो तीन रूप या स्वर मिलते हैं वही 'आत्मकथा' मे भी द्विवेदीजी की गद्य-शैली के मिलते हैं। अतएव बाण की गद्य-शैली को हिन्दी म उतार दिखाने की चाह यदि आचार्यजी के मन मे रही हो तो आश्चर्य नहीं।

पंडितजी के निबन्धों, भाषणों और वार्ताओं को पढ़-सुन कर कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनको वर्णनों के प्रति विशेष मोह है। बाणभट्ट के वर्णनों मे रस आने के कारण वर्णनों मे उनकी रुचि बन गई है। वर्णनों में शैली की जो छूट मिलती है वह अन्यत्र कठिन है। वर्णन दोनों ही प्रकार के होते हैं—एक तो दृश्यों या उत्सवों के वर्णन और दूसरे मनोदशा के निरूपक वर्णन। दोनों के माध्यम से बुद्धि और हृदय की निगूढ़ सम्पत्ति को प्रकाश मे लाने का अवसर मिलता है। समाज, धर्म, कला, राजनीति आदि

के सम्बन्ध में लेखक को अपना मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलती है। 'आत्मकथा' को देखकर यह प्रमाणित हो जाता है कि अध्ययन और मनन से ही नहीं वरन् समाज से संकलित अनुभवों के आधार पर लेखक ने अपने कुछ सिद्धान्त तैयार किये हैं और 'आत्मकथा' के वर्णनों में उनको व्यक्त करने का अवसर प्राप्त किया है। लेखक की वर्णन-प्रियता आत्मकथा में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गई है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि आचार्यजी 'वर्णन-लोलुप' हैं। मेरा विचार है कि वर्णन-लोलुपता कोई दोष नहीं है। साहित्य में वर्णन अपना स्थान रखते हैं। वे परिस्थितियों (भौगोलिक एवं सामाजिक) का परिचय कराते हैं और किसी कथा या प्रबन्ध को पोषक तत्त्व प्रदान करते हैं। रसास्वादन की भूमिका वर्णनों में ही विशेषरूप से तैयार हो सकती है। आत्मकथा के वर्णनों को पढ़कर ऊबने के स्थान पर पाठक उनकी लहरों में लहराता जाता है, उसकी वृत्ति उनमें रमती है। ऐसे वर्णनों के प्रति लोलुपता का भाव किसी लेखक के लिए साधुवाद अर्जित कर सकता है। लेखक को वर्णन-लोलुप कहने में आलोचना को सम्मान नहीं मिल सकता। वर्णन-लोलुप कोई हो सकता है, किन्तु वर्णनों को भावों से पुष्ट और भाषा से चमत्कारपूर्ण बना देना आसान बात नहीं है। इस काम के लिए शक्ति और क्षमता चाहिये और शक्ति का परिचय या प्रमाण मिलना चाहिये। अतएव शक्तिशाली साहित्यकार ही वर्णनों के बल से हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के भाव को इतनी बड़ी 'आत्मकथा' के रूप में साकार कर सकता है। मैं समझता हूँ 'वर्णन-लोलुप' न कह कर लेखक को 'कलाप्रिय' या 'कलाविद' नाम देना ही उचित है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' को रूप देने में कुछ योग हर्षवर्धन के युग का भी है। हर्षवर्धन का युग भारतीय स्वर्ण-युग की सीमा है। जिस प्रकार गुप्त-काल में संस्कृति और कला को गौरव मिला उसी प्रकार हर्ष-काल में भी उनको गौरव मिला। दोनों युगों ने अलग-अलग दो साहित्यिक स्तम्भों को जन्म दिया। गुप्तकाल को जैसा गौरव कवि-कुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने दिया वैसा ही गौरव हर्षकाल को महाकवि बाण ने दिया। दोनों अपने-अपने युग के साहित्याकाश के चमकते तारे हैं; वरन् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि दोनों ही भारतीय साहित्यकारों के उन्नत मौलि को भास्वर मुकुट-मणियाँ हैं। आचार्य द्विवेदी दोनों के प्रशंसक हैं, किन्तु दोनों के रचना-क्षेत्र भिन्न हैं। एक काव्य और नाटक के क्षेत्र में अद्वितीय है और दूसरा गद्य-कथा और रोमांस के क्षेत्र में। दोनों ही अपनी-अपनी शैली के प्रणेता हैं।

ऐसा कहना तो बड़ा भारी अनर्थ होगा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कवि नहीं हैं' क्योंकि उनकी संस्कृत कविताएं मैंने, किसी कवि-सम्मेलन में न सही, चलते-फिरते या घर पर विश्राम के समय अथवा आमोद-वार्ता के समय सुनी हैं। हिन्दी में भी वे कविता करते होंगे, मुझे ज्ञात नहीं है; किन्तु 'आत्मकथा' के अनेक वर्णन काव्य-रस से आपूर्ण हैं। कविता भावों का कलात्मक निरूपण है तो अवश्य ही 'आत्मकथा' काव्य

के दुर्लभ गुणों से सम्पन्न है। इसलिए लेखक को एक ओर तो आकर्षण रहा बाणभट्ट की गद्य-शैली के प्रति और दूसरी ओर हर्ष के युग की ओर रहा। युग और बाण की शैली ने बाण के प्रति लेखक के आकर्षण को द्विगुणित कर दिया।

इन बातों के अतिरिक्त लेखक और बाण के व्यक्तित्व में बहुत साम्य है। दोनों के आकार-प्रकार, वेश-भूषा, बोल-चाल, रीति-रिवाज और आचार-पद्धति में बहुत साम्य हैं। भाव-साम्य दोनों को बहुत निकट ले आता है। दोनों की जन्म-भूमि उस दिशा से संबंध रखती है जहाँ के ब्राह्मण अपनी निष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं। मैं समझता हूँ कि इस साम्य-भाव ने भी डा० द्विवेदी को बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने की प्रेरणा दी।

हर्षवर्धन अखण्ड भारत का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् था। उसी के पश्चात् भारत की अखण्डता का विघटन होने लग गया। विदेशियों ने भारत पर आक्रमण का तांता लगा दिया और इधर देश की दबी हुई विरोधी शक्तियाँ भी उभरने लगीं। इस युग के बाद भारत दासता की दिशा में बढ़ता चला गया और इस कृति के रचना-काल तक देश उस दासता से मुक्त न हुआ जिसका बीजारोपण हर्ष के शासन के पश्चात् ही होने लग गया था। यह युग एक देश-भक्त की दृष्टि से ही स्मरणीय नहीं है, वरन् एक साहित्य-प्रेमी की दृष्टि से—एक महान् कलाकार की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जिसमें बाण-जैसा अद्वितीय गद्य-शैलीकार उत्पन्न हुआ। अतएव बाणभट्ट के साथ यह युग भी स्मरणीय है। बाणभट्ट की आत्मकथा, मेरी दृष्टि में, बाण से सम्बन्धित एक महान् स्मारक है जो हर्ष के उस युग का भी स्मरण दिलाता है, जिसमें अनेक वर्गों और धर्मों को स्वतन्त्रता थी और जो भारत की अखण्ड स्वतन्त्रता का अन्तिम काल-स्तम्भ था।

'आत्मकथा' की प्रेरणा के अनेक स्रोतों को खोजते हुए यह न भुला देना चाहिये कि कलाकार और जादूगर में बहुत साम्य होता है। दोनों सामाजिकों के कुतूहल बढ़ाने की रुचि रखते हैं। जिस प्रकार जादूगर अपने खेलों से दर्शकों को दंग करना चाहता है, उसी प्रकार कलाकार अपने साहित्यिक खेलों से अपने पाठकों को चकित कर देना चाहता है। इस रुचि के पीछे आत्म-लोप और यश की इच्छा तो रहती ही है, साथ ही उसकी चमत्कार-प्रियता भी बलवती होती है। डा० द्विवेदी की इस कलाकृति की प्रेरणा के सम्बन्ध में उनकी चमत्कार-प्रियता को भुलाया नहीं जा सकता। कलाकार वह है जो अपनी एक छोटी से छोटी बात को सुन्दर और मोहक बनाकर प्रस्तुत कर सके। यों तो अभिव्यक्ति सामान्य से सामान्य व्यक्ति के पास भी होती है, किन्तु वाग्विदग्धता हर किसी की वश-वर्तिनी नहीं होती। वह किसी को प्रकृति के वरदान के रूप में मिलती है और किसी को अनुकरण और अभ्यास से ही प्राप्त हो जाती है। 'आत्मकथा' के लेखक को वाग्विदग्धता प्रकृति के वरदान के रूप में प्राप्त हुई है और इसका उपयोग अपनी रचनाओं में उसने अपने पाठकों को प्रभावित, चकित और विस्मित करने के लिए किया है। लेखक ने इस

कृति में जिस साहित्यिक छल का उपयोग किया है, वह भी उसकी चमत्कारिणी प्रवृत्ति का ही एक अंग है।

बाण के सम्बन्ध में राहुल सांस्कृत्यायन की उक्तियों से मर्माहत होकर भी बाण-भट्ट के आचरण की प्रतिरक्षा के लिए लेखक को 'आत्मकथा' लिखने की प्रेरणा मिली। बाण स्वेच्छाचारी था, नटी-नर्तकियों के साथ रहता था, घुमक्कड़ था, नाटकाभिनयों में रुचि रखता था, काम कलाविद् था और इतर अनेक कलाओं का मर्मज्ञ भी था, किन्तु इन सब बातों से उसकी लम्पटता सिद्ध नहीं होती। उसके आचरण भ्रष्ट होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस भाव को लेकर आचार्य द्विवेदी को राहुलजी की उक्ति के विरोध में भी 'आत्मकथा' के मैदान में उतरना पड़ा। इन सबके अतिरिक्त पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में भी इस शैली का प्रचलन बहुत लोक-प्रिय बन गया था। हिन्दी-साहित्य में भी इस शैली को प्रवेश मिल गया था। 'शेखर: एक जीवनी' ने उपन्यास-क्षेत्र में एक तहलका मचा दिया था। डा० द्विवेदीजी जो उस समय तक आलोचक के ही रूप में प्रसिद्ध थे, आत्मकथा लिखने के लोभ का संवरण न कर सके। आत्मकथा-शैली के उपन्यास प्रायः ऐतिहासिक पीठिका पर नहीं जम सकते, क्योंकि ऐसे उपन्यास का नायक कोई ऐसा इति-हास-प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिये, जिसकी जीवनी इतिहास में मिल सके। ऐतिहासिक व्यक्ति के सम्बन्ध में जीवन-चरित सरलता से लिखा जा सकता है, किन्तु आत्मकथा लिखने के मार्ग में कुछ कठिनाइयां प्रस्तुत होती हैं क्योंकि प्राचीन काल में एक तो बहुत कम लोगों ने अपने परिचय दिये हैं, दूसरे आत्मकथा के रूप में किसी ने अपना परिचय नहीं दिया। सच तो यह है कि साहित्य के क्षेत्र में तो आत्मकथा बिल्कुल नई विधा है। संस्कृत में कवियों की आत्मकथा का मिलना तो बहुत दूर की बात है, वहाँ कवि-जीवन-परिचय भी बहुत कम मिलता है। बाण ने 'हर्ष-चरित्' में अपना थोड़ा-सा परिचय देकर अपने सम्बन्ध में जानने के लिए पाठकों की जिज्ञासा को केवल उदग्र कर दिया है। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानों पाठकों की इस जिज्ञासा के शमन के लिए और उपन्यास की नवीन विधा को हिन्दी में रूपायित करने के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आत्मकथा अपने आप में अपूर्ण होती है और बाणभट्ट के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उसकी सभी साहित्यिक कृतियाँ अपूर्ण हैं। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' की आड़ में लेखक की मधुर उपन्यास-कला सफल हो जाती है।

२. स्वरूप-निर्णय

'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम लेखक की अपनी जीवनी होने की सूचना देता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बाणभट्ट ही इसका लेखक है। कथा के यशस्वी सम्पादक, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कृति को 'अभिनव कृति' कह कर प्रशस्त किया है। इससे दो संकेत ग्रहण [illegible]

स्वयं डाक्टर साहब ने 'बाणभट्ट की नकलियत' का पर्दाफाश कर दिया है, अर्थात् यह एक शैली है जिसका उपयोग इसके लेखक ने बड़ी सावधानी से किया है।

संपादक महोदय ने भूमिका में सूचना दी है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की मूल लिपि आस्ट्रिया वासिनी मिस कैथराइन को, जिसको उन्होंने दीदी नाम से अभिहित किया है, शोण-यात्रा के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुई। कथामुख से हमें यह सूचना भी मिलती है कि मिस कैथराइन को संस्कृत-हिन्दी का अच्छा अभ्यास था, इसलिए उन्होंने संस्कृत की मूल रचना का हिन्दी-अनुवाद बड़ी रुचि के साथ कर डाला।

सचमुच दीदी की कलम एक जादू की कलम रही है अथवा मिस कैथराइन के बुर्के में कलम का कोई संभ्रान्त जादूगर छिपा हुआ है, जो न जाने, किस लाज से, किस हिचक से उसके बाहर नहीं आना चाहता। निस्सन्देह कृति की इस रहस्यमयी व्यवस्था ने 'अभिनव प्रयोग' को सार्थक बना दिया है।

इससे बाणभट्ट की आत्मकथा की प्रामाणिकता का प्रश्न इसके पाठक के सामने प्रमुख रूप से आता है, क्योंकि सत्य प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता और जहाँ गोपन-प्रयत्न किसी संशय को उद्बुद्ध करते हैं वहाँ सत्य-ज्ञान की चेष्टाएँ भी उद्दाम हो जाती हैं। यह तो लगभग स्पष्ट ही है कि यह रचना प्रामाणिक नहीं है—इसलिए कि उसकी हस्त-लिपि या उसका लेखक (बाणभट्ट) संदिग्ध है। हाँ, उसको शोणनद की यात्रा का परिणाम अवश्य बतलाया गया है, पर वह कहाँ, कैसे और किस रूप में उपलब्ध हुई, इस संबंध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। उसकी कोई हस्तलिखित प्रति रही होगी, यह बात संदेहास्पद है। 'शोणनद के बालुका-कणों से उठी हुई मर्मभेदी पुकार' ही वास्तव में बाणभट्ट की मूक वाणी है जो लेखक की अन्तर-प्रेरणा है, अनुवाद तो केवल बहाना है।

संस्कृत-साहित्य में आत्मकथा की परम्परा नहीं रही है। यह कथा एक सुन्दर साहित्यिक प्रयास है। यदि सातवीं शती की इस कृति का कहीं कोई अस्तित्व होता तो उसका प्रचार आँधी की भाँति हो जाता, क्योंकि वह संस्कृत-साहित्य की एक अभूतपूर्व निधि होती। छिपाने से वह हरगिज़ नहीं छिपती, उसका ढिंढोरा पिट गया होता। इसकी पाडुलिपि कैसी थी और उसका क्या हुआ इसका भी कुई पता नहीं चलता। पता तो तब न चलता जबकि उसका कहीं अस्तित्व होता। सच तो यह है कि पाडुलिपि एक हवाई चीज है, इसीलिए वह बट्टे खाते में डाल दी गई है।

यदि यह मान लिया जाये कि वास्तव में कोई पाडुलिपि रही होगी तो बाणभट्ट की वह कृति संस्कृत मे होगी। उसका अनुवाद संस्कृत और हिन्दी का कोई सिद्धहस्त विद्वान् ही कर सकता था, ईसाई हिन्दी के जाननेवाली दीदी कैथराइन से उसके अनुवाद की आशा नहीं की जा सकती। सपादक महोदय ने आत्मकथा के वर्णना के सम्बन्ध में फुटनोट में कादम्बरी आदि के जो सकेत दिये हैं वे बाणभट्ट की शैली का स्मरण कराते हैं, अतएव बाणभट्ट जैसे जटिल एवं दुरूह लेखक की कृति के अनुवाद में जिसमें बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित विफल हो जाते हैं, दीदी की सफलता की कल्पना नहीं की जा सकती।

जो दीदी हिन्दी-संस्कृत की विदुषी बन गई हैं और उनका भाषाधिकार इस सीमा तक पहुँच गया है कि बाणभट्ट की कृति का हिन्दी में अनुवाद कर डालती हैं उनमें यह भी अपेक्षा की जानी चाहिये कि वे अंग्रेजी भी जानती होंगी क्योंकि उस समय भारत में किसी विदेशी का काम अंग्रेजी के बिना नहीं चल सकता था। मिस कैथराइन को हिन्दी का ज्ञान भी अंग्रेजी के माध्यम से ही हुआ होगा। सामान्यत योरुप और भारत के व्यावहारिक सम्बन्ध में अंग्रेजी के माध्यम से ही सुरक्षित थे। अंग्रेजी ज्ञान की दशा में मिस कैथराइन ने आत्मकथा के अनुवाद का कार्य सम्पादक पर छोड़ा, यह आश्चर्य की बात है।

जिस प्रकार बाणभट्ट की अन्य कृतियाँ उत्तराधिकार में उनके पुत्र को मिली थीं, उसी प्रकार आत्मकथा भी मिली होगी, अतएव अन्य कृतियों के साथ वह भी प्रकाश में आनी चाहिये थी, किन्तु उसका प्रकाश में न आना इस कारण की ओर संकेत करता है कि बाणभट्ट ने उसे अपने पुत्र से गुप्त रखा होगा। गोपनीयता की जैसी बात तो इसमें कुछ है नहीं, अतएव यह भी नहीं माना जा सकता कि आत्मकथा बाण-पुत्र को न मिल कर गोपन-सम्बन्ध से इधर-उधर चली गई।

उपसहार में सम्पादक के ये वाक्य बड़े महत्वपूर्ण हैं—"मन्त्रीदवर्ष की मदन कुमारी दवपुत्रनन्दिनी क्या आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही है!" सपादक ने उप-सहार में दीदी का एक वाक्य भी उद्धृत किया है, वह यह है—"बाणभट्ट केवल नारी

में ही नहीं होते।" ये दोनों वाक्य निर्णय की ओर जाते हुए पाठक को सहसा दूर खींच ले जाते हैं। सम्पादक का फिर एक प्रश्न पाठक की निर्णयात्मिका बुद्धि को प्रेरित करता हुआ इस प्रकार उठता है—'प्रास्ट्रिया में जिस नवीन बाणभट्ट का प्राविर्भाव हुआ था, वह कौन था? हाय, दीदी ने क्या हम लोगों के अज्ञात अपने उसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था? यह कैसा रहस्य है। दीदी के सिवा और कौन है, जो इस रहस्य को समझा दे। मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।' इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि आत्मकथा बाणभट्ट की लिखी हुई नहीं है, वह तो एक साम्य की कल्पना-मात्र है। आत्मकथा के वातावरण में ऐतिहासिक रङ्ग होते हुए भी इसका लेखक प्राचीन बाणभट्ट नहीं है, वह एक नवीन बाणभट्ट है और उसकी आत्मकथा एक नवीन आत्मकथा है जिसकी प्रामाणिकता की कलई अपने आप ही खुल जाती है।

इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न अवशिष्ट रह जाता है कि क्या यह दीदी की रचना है? इस प्रश्न की सृष्टि उपसंहार के इन शब्दों से होती है—'हाय, दीदी ने ....अपने किसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था।' उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मकथा दीदी की कृति कदापि नहीं है क्योंकि इसके वर्णन—प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं साधनात्मक—दीदी की शैली के परिचायक न होकर किसी सिद्धहस्त साहित्यकार की कृति हैं, जो यदि बाणभट्ट के नहीं हैं तो वे दीदी के भी नहीं हैं।

फिर इसका सिद्धहस्त विधाता—तीसरा व्यक्ति कौन है? अब वह सामने है, पर्दे के पीछे नहीं है; और वे हैं पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, तथाकथित सम्पादक। यह रचना लेखक की केवल कारयित्री प्रतिभा को दुन्दुभी ही नहीं है, अपितु उसकी भावयित्री प्रतिभा का अमोघ वरदान भी है।

लेखक ने अपनी शैली को विशेषता देने के लिए आत्मकथा में अपना स्पष्ट सम्बन्ध व्यक्त नहीं किया, किन्तु सम्बन्ध को समझने के लिए कथामुख और उपसंहार में अनेक संकेत मिल जाते हैं। उनमें से एक यह भी है—'सहृदय पाठकों के लिये यह कार्य छोड़ दिया गया।' इस वाक्य से सम्पादक ने परोक्ष रूप से कथा में अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। 'अनेक मित्रों के आग्रह, अनुरोध और शुभेच्छा का ही यह परिणाम है,' यह वाक्य भी इसी सम्बन्ध को प्रमाणित करता है। आत्मकथा के आधार की घोषणा करके भी सम्पादक ने उससे अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। घोषणा इन शब्दों में हुई है— "बाणभट्ट और श्री हर्षदेव के ग्रन्थ कथा के प्रधान उप जीव्य रहे हैं।" यह विनय-प्रकाशन भी सम्बन्ध की ही स्वीकृति है—'कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।'

निर्वाह उसमे अनिवार्य नही होता। यह तारतम्य-निर्वाह प्रस्तुत कृति में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह कोई इतिहासेतर विधा है।

'आत्मकथा' को इतिहास न मानने का एक कारण यह भी है कि इसमे घटना-तिथियों की एकदम उपेक्षा करदी गई है जबकि इतिहास उनकी उपेक्षा नही कर सकता

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे भावयित्री प्रतिभा का योग है। परिस्थितियों और घटनाओ के भावात्मक वर्णन अलङ्कारो के सम्बन्ध से कल्पना को प्रशस्त कर देते हैं, जिससे कृति का इतिहास-रूप असिद्ध हो जाता है।

वातावरण के अन्तर्गत जिन परिस्थितियो का प्रतिरूपण किया गया है उन सब मे प्रामाणिक तथ्यो की पीठिका नही है। तुवरमिलिन्द, भट्टिनी, निपुणिका आदि पात्र इतिहास-सम्मत नही हैं। साथ ही जिस राजनीतिक जागृति और सामाजिक चेतना का उल्लेख है वह भी इतिहास-सिद्ध नहीं है और यदि इन्हें प्रमाणित मान भी लें तो भाषण और संवादों का रूप इस कृति को इतिहास से निकाल कर साहित्य के क्षेत्र मे ले जाता है।

इस रचना की प्रवृत्ति चरित्र-चित्रण की ओर रही है किन्तु यह इतिहास की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इतिहास कहीं-कहीं चरित्र-वर्णन तो कर देता है किन्तु चरित्र-चित्रण उसकी परिधि से बाहर की चीज है।

'आत्मकथा' भाव-पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर रस-निष्पत्ति की आयोजना करती है जबकि इतिहास वस्तु-संकलन और विश्लेषण करके यथातथ्यात्मकता को ही प्रोत्साहन देता है, परिणामतः वह भाव-अनुरजना मे प्रवृत्त नही होता।

इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नही है।

जीवनी

यदि यह इतिहास नही तो क्या जीवनी है? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम से ही पाठक के सामने सहसा दो प्रस्ताव आते हैं—एक तो यह कि बाणभट्ट की लिखी हुई यह उसी की कहानी है और दूसरा यह कि यह नाम संभवतः किसी अन्य व्यक्ति का रखा हुआ है। दूसरे प्रकार का भ्रम 'शेखर: एक जीवनी' जैसे नाम से भी होता है। जिस प्रकार 'शेखर: एक जीवनी' को भ्रम से कोई पाठक 'आत्मकथा' समझ सकता है उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को वह भ्रम से एक जीवनी की संज्ञा दे सकता है। वस्तुत: दोनों विधाओ मे बहुत अन्तर है, किन्तु उन दोनों के साम्य तत्त्व से ही भ्रम की सृष्टि हो जाती है।

जीवनी और आत्मकथा

ये दोनों विधाएं बहुत कुछ मिलती हैं। दोनों का लेखक एक पर्यवेक्षक की भांति तथ्यनिरूपण करता है। वह जो कुछ देखता या सुनता है उसको उसी रूप में प्रस्तुत करता है। किसी भी दशा में उसके वस्तु-निरूपण पर कल्पना का रंग नहीं चढ़ना चाहिये। जहां वह चढ़ता है वहां जीवनी या आत्मकथा अपनी सीमा का व्यतिक्रमण करके अपने लक्ष्य से विभ्रष्ट होती चली जाती है। दोनों का लेखक अपनी भावनाओं का पुट देकर वस्तु-निरूपण को अन्तर्वृत्ति के हाथों नहीं सौंप सकता। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार जीवनी-लेखक इस प्रकार के वाक्य नहीं लिख सकता—यदि बापू अपने कमरे से बाहर आ गये होते तो चोरों ने उन्हें मार डाला होता, उसी प्रकार आत्मकथाकार ऐसे वाक्य नहीं लिख सकता—'यदि संदेश न आता तो मैं मर गया होता', क्योंकि 'क्या हुआ होता', इस प्रश्न के उत्तर में कुछ कहना कल्पना को अधिक प्राधान्य देना है। जो कुछ होता, वह तो भविष्य की बात है। जीवनी या आत्मकथा का लेखक कल्पना या अनुमान के माप-दण्डों से भविष्य के अज्ञातान्ध गर्त को नहीं माप सकता।

जीवनी में सत्य अपनी वस्तु-स्थिति में रहता है, वह अपने अस्तित्व को कल्पना की उड़ान के हवाले नहीं कर सकता। जीवनी या आत्मकथा दोनों ही अपनी घटनाओं को किसी सप्रयोजन तारतम्य में पिरोकर किसी विशिष्ट फलागम की ओर नहीं ले जाती है। जीवनी और आत्मकथा दोनों ही एक-संबद्ध होती हैं जबकि इतिहास अनेक-सम्बद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास घटनाओं को सामने रखकर पात्रों को पीछे रखता है और जीवनी या आत्मकथा चरित-नायक को समक्ष रखती है, घटनाएं उसके पीछे चलती हैं। जीवनी में नायक अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक विस्तारगत और स्पष्ट होता है। अनेक सापनों और घटनाओं की बहुलता जीवनी और आत्मकथा में अपना महत्त्व नहीं छोड़ती। जीवनी की सफलता तो इसमें है कि उसमें अकृत तथ्यों की प्रतिष्ठा होती है और किसी महापुरुष से सम्बन्धित होने पर उसकी उपयोगिता भी बढ़ जाती है। उसमें आदर्श चरित्र की व्यवस्था होती है। जीवनी का लक्ष्य कल्पना के मसालों से चटपटा बनाना नहीं है। जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं होता कि वह अपने नायक के जीवन की यथातथ्यता से दूर हट कर कल्पना के साथ उड़ता फिरे। जीवन को चमत्कृत बनाना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी। कथाकार ऐसा कर सकता है। वह अपनी रचना का नायक किसी साधारण व्यक्ति को बनाकर उसे रोचक बनाने के लिए इच्छानुकूल सामग्री और वातावरण की व्यवस्था कल्पना के आधार पर भी कर सकता है। वह अपनी विधायिनी प्रतिभा का उपयोग खुलकर कर सकता है और विस्तारों में मनोनुकूल झुकाव दे सकता है, किन्तु जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं है। उसका काम तो एक मुनीम का-सा है जो रत्ती-रत्ती भर का ब्यौरा रखता है। वह अपने नायक से सम्बन्धित प्रमाणित तथ्यों को अपने शब्दों-भर में ढाल देता है। वह नायक के चरित या वस्तु-विस्तारों

से छेड़-छाड़ नहीं कर सकता। जीवनी भानुमती का कुनबा नहीं है जिसके जोड़ने में किसी भी ईंट-रोड़े का उपयोग कर लिया जाये। जीवनी के विस्तार अपना स्थान नहीं छोड़ सकते। जीवनी की प्रत्येक पंक्ति में नायक के चरित्र का प्रकाश होना है, अन्यथा उसका मूल्य विगलित होजाता है।

(७) जीवनी-नायक के जीवन की घटनाएं प्रमाणित होती हैं जिनके साथ उसकी बौद्धिक हार्दिक एवं व्यावहारिक अनुभूतियाँ भी संचित रहती हैं। नायक के भाव, व्यापार, विचार एवं सम्पर्क का परिवेश लेखक के हाथों में अपनी मौलिकता या स्वतन्त्रता को खो नहीं बैठता।

जीवनी लेखक अपने नायक के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी ओर से नमक मिर्च नहीं मिला सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह नायक के चरित्र वर्णन में अपने व्यक्तित्व का नहीं मिला सकता। इस प्रकार नायक का चरित्र अपनी मौलिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखता है। यद्यपि ऐसी जीवनियों का मिलना दुष्कर है, किन्तु उनके लेखकों से अपेक्षा यही की जाती है कि अपने उद्देश्य की ओर उनकी पहुँच निर्वैयक्तिक हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह मत भी प्रचलित है कि लेखक नायक के विषय में अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर सकता है और नायक विषयक तथ्यों की अभिव्यंजना उस प्रकार भी कर सकता है जिस प्रकार उनको उसने समझा है। लेखक का यह प्रयास वैयक्तिक कहलाता है।

यह मानी हुई बात है कि जीवनी-नायक कोई महापुरुष होता है। यद्यपि उसके जीवन के तथ्यों के सम्बन्ध में सचाई बरतना सामान्य लेखक के वश की बात नहीं है, किन्तु सचाई और तटस्थता के बल से ही जीवनी की सफलता और सार्थकता सुरक्षित रह सकती है। इससे स्पष्ट है कि जीवनी का मौलिक पावन अस्तित्व उसकी वस्तुपरकता है।

जो दो मत जीवनी के सम्बन्ध में हैं वे ही आत्मकथा के सम्बन्ध में भी हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। जीवनी का लेखक नायक से भिन्न होता है, किन्तु आत्मकथा का नायक ही लेखक भी होता है। जीवनी अपनी परिधि में नायक के आमरण वृत्तान्त को समाविष्ट कर सकती है, किन्तु आत्मकथा में यह बात लगभग असम्भव है।

आत्मकथा उत्तम पुरुष में लिखी जाती है और जीवनी अन्य पुरुष में। इस मापदण्ड के आधार पर यही सिद्ध होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जीवनी नहीं है क्योंकि वह उत्तम पुरुष में लिखी गई है। जीवनी तो वह इसलिये भी नहीं है कि उसके लेखक और नायक में अभेद दिखलाया गया है।

अर्धकथा

नाम और कुछ लक्षणों से ऐसा आभास मिलता है कि यह रचना आत्मकथा होगी, किन्तु यह निर्णय उपन्यास के साथ करने का है और विस्तार लेगा। अतएव यहाँ अर्द्ध-कथा के सम्बन्ध में विचार कर लेना ही उचित होगा। स्वर्गीय पं० रामकृष्ण शुक्ल

'शिलीमुख' इसे 'अर्द्ध कथा' मानते थे। इसमें जो अपूर्णता का आभास मिलता है सम्भवत: वही शुक्लजी की मान्यता का कारण रहा हो। अपूर्णता का आभास तो इसलिये होता है कि इसको आत्मकथा के फ्रेम में बैठाने का उपक्रम किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आने वाला प्रतिक्षण आत्मकथा को अधूरी सिद्ध कर सकता है। स्वयं सम्पादक ने यह कहकर कि 'बाणभट्ट की कादम्बरी की भाँति यह रचना भी अपूर्ण है,' पाठकों के भ्रम के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत कर दिया है। शुक्लजी के भ्रम का एक कारण यह भी हो सकता है। वास्तव में अपनी शैली में यह कृति अधूरी कथा नहीं है। अधूरी-जैसी प्रतीत होना तो इसकी एक विशेषता है, एवं कुतूहल की सृष्टि है जो इसको अधिक साहित्यिक सिद्ध करती है।

आत्मकथा या उपन्यास

यदि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं, जीवनी नहीं और अर्द्ध कथा भी नहीं तो क्या 'आत्मकथा' ही है जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता। यह रचना उत्तमपुरुष में है और लेखक और नायक में अभेद भी दिखाया गया है। इस शैली के पर्दे के पीछे इस कृति को 'आत्मकथा' के प्रतिबिम्ब में व्यक्त किया गया है, पर वास्तव में यह आत्मकथा नहीं है, क्योंकि इसके विरोध में अन्य तर्कों के साथ एक यह भी है कि उसमें भावनाओं और कल्पनाओं का गहरा पुट है। साथ ही इसमें रस-योजना का प्रयत्न और किसी उद्देश्य या लक्ष्य की प्रेरणा भी है। इस रचना में जो वर्णन दिये गये हैं उनमें बहुत-सी रस-निष्पत्ति की दृष्टि से ही आयोजित किये गये हैं।

घटनाएँ साहित्यिक कथावस्तु के चौखटे में व्यवस्थित हैं। वर्तमान युग की अनेक समस्याओं को इतिहास के फ्रेम में जड़कर सच्चा-जैसा दिखलाने का प्रयत्न भी किया गया है, पर इतिहास उन सबका साक्षी नहीं है। चरित्र-चित्रण के प्रति भावात्मक प्रयास भी 'आत्मकथा' को आत्मकथा सिद्ध करने में बाधक होता है। इसके अतिरिक्त कथामुख और उपसंहार में जो गुल खिले हैं उनसे भी इस कृति का आत्मकथा होना असिद्ध होगया है।

पाठकों और आलोचकों के सामने इस अभिनव प्रयोग के कारण अक्सर निर्णय का प्रश्न खड़ा हो जाता है। प्रश्न यह है कि आत्मकथा और उपन्यास में से इसे क्या कहा जाये।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि आत्मकथा के निर्णय का मूलाधार उसका लेखक होता है। वह स्वयं अपने जीवन का ब्यौरा देता है। उपन्यास का लेखक आत्मेतर किसी नायक के सम्बन्ध में उसकी रचना करता है, भले ही वह नायक या किसी अन्य पात्र की आत्मा में प्रच्छन्न और परोक्ष रूप से प्रविष्ट रहे। आत्मकथा की भाँति वह उपन्यास में अपने जीवन की कथा प्रत्यक्ष रूप से नहीं कह सकता।।

उपन्यास की अपेक्षा आत्मकथा का लिखना बहुत सरल है क्योंकि उसका कोई

विशेष 'टेकनीक' नही होता, किन्तु उपन्यास का 'टेकनीक' होता है जिसमें दूसरे के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। आत्मकथाकार अपने जीवन की सब घटनाओ को चित्रित कर सकता है, किन्तु उपन्यासकार अपने नायक के जीवन की प्रमुख घटनाओ का ही उपयोग करता है—वह केवल उन घटनाओं का उपयोग करता है जो उसकी कृति को सरस और प्रभावशाली बनाएँ। वह अपने नायक के जीवन के मार्मिक स्थलो को छाँटकर उन्ही की व्यवस्था से उसे सफल बनाने की चेष्टा करता है। अतएव उसका काम सामान्य पर्यवेक्षक का नही है, अपितु एक सूक्ष्म द्रष्टा का होता है जिसकी दृष्टि शीघ्र ही मर्मस्थल पर पहुँच जाती है।

उपन्यास के पात्र, स्थान आदि कल्पित भी हो सकते हैं, किन्तु आत्मकथा में कल्पना के लिए कोई अवकाश नही होता। यह ठीक है कि उपन्यास की कथावस्तु प्रख्यात भी हो सकती है किन्तु उत्पाद्य और मिश्रित कथावस्तु उपन्यास में कल्पना के स्थान को अधिक निश्चित कर देती है। अधिकांशतः यही देखा जाता है कि उपन्यासो में कल्पित कथा-वस्तु का ही विशेष उपयोग किया जाता है। उपन्यास के रोमास तत्त्व की सजावट तो कल्पना से ही होती है।

आत्मकथा की वस्तु मे विन्यास की समस्या नही उठती और न वह कल्पना का ही सहारा जोहती है। आत्मकथाकार 'अपनी वस्तु' को कही बाहर से नही ला सकता। उसकी निर्मिति भूत और वर्तमान की सीमाओ मे ही हो सकती हैं, भविष्यत् से आत्मकथा का कोई सम्बन्ध नही हो सकता।

आत्मकथा की कथावस्तु मे इतिहास का अंश हो सकता है, किन्तु वह सबको सब ऐतिहासिक नही होती है। उसमे इतिहास का अंश इसलिए होता है कि उसमें आत्मकथा-कार के अतीत की झाकी भी रहती है, किन्तु उपन्यास मे 'ऐतिहासिक भूत' अनिवार्य नही है।

उपन्यास की कथावस्तु का अवसान किसी लक्ष्य मे होता है। उसकी सब घटनाएँ उसी की ओर मुड़ती चली जाती हैं। आत्मकथा का अवसान किसी लक्ष्य में नही होता, अतएव उसकी घटनाओ में किसी लक्ष्य की प्रेरणा से पारस्परिक सम्बन्ध की योजना नही दिखाई देती।

कला उपन्यास को सौन्दर्य प्रदान करती है और सुन्दर तात्त्विक योजना ही उसकी सफलता है। उपन्यास इस योजना की उपेक्षा नही कर सकता। आत्मकथा कला को उतना ही आश्रय देती है जितना सत्य-विवरण के लिए अपेक्षित होता है। जिस प्रकार कुतूहल और औत्सुक्य उपन्यास मे आवश्यक समझे जाते हैं, उस प्रकार आत्मकथा मे नही समझे जाते, प्रत्युत आत्मकथा मे सामान्यतः उनके लिए कोई अवकाश नही होता। उपन्यास-

कार के सामने कितनी ही शैलियां हैं। वह उनमें से किसी को अपना सकता है, किन्तु आत्मकथाकार के सामने कोई विकल्प नहीं होता।

आत्मकथा का अन्त कहां होना चाहिये, यह उसके स्रष्टा के वश कि बात नहीं है। अत: आत्मकथा में किसी नियत उद्देश्य की योजना नहीं हो सकती, किन्तु उपन्यास में एक निश्चित उद्देश्य होता है। जब तक आत्मकथा यथातथ्यता की भूमिका पर प्रतिष्ठित रहती है वह अपने अभिप्राय को पूर्ण करती है, अन्यथा उसमें विचलित होकर अप-वर्ग हो जाती है। जो कुछ हुआ है, आत्मकथा तो केवल उसी से सम्बन्धित होती है और उपन्यास 'जो कुछ हो सकता है' उससे भी सम्बन्धित हो सकता है। अतएव 'जो कुछ नहीं हुआ है', उपन्यास के क्षेत्र में वह भी आ सकता है। उपन्यास के नायकादि पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उपन्यास के पात्र सम्भवनीयता के गर्भ में भी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि आत्मकथा का नायक (अन्य पात्र भी) सत्य-प्रसूत होता है।

आदर्श की दृष्टि से, उपन्यासकार उसकी सृष्टि कर सकता है, किसी कल्पित आदर्श की स्थापना कर सकता है, किन्तु आत्मकथाकार ऐसा करने में असमर्थ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मकथा में न तो उपन्यास का सा वस्तु-विन्यास होता है, न वह कसावट और उद्देश्य ही। तर्क और उक्तियों की चुस्ती, संवादों की सजीवता, वर्णन की रंगसाजी, कल्पना की उड़ान, वस्तु का अवसान, कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा और कलाचातुर्य भी उपन्यास की ही विशेषता है।

उपन्यास अपनी काया के विकास के लिए अपना सर्वस्व अपने कर्त्ता को समर्पित करके उसका मुंह ताका करता है। इतना ही नहीं अपनी सप्राणता के लिए भी वह उसी के सामर्थ्य की अभिलाषा रखता है, किन्तु आत्मकथा इन सबके प्रति निरासक्ति-भाव रखती है क्योंकि उसकी काया में झूठी माया का कोई योग नहीं होता है।

इस प्रकार आत्मकथा और उपन्यास का स्थूल अन्तर लेखक, कल्पना और उद्देश्य में निहित होता है, जिसमें वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, शैली देशकाल और उद्देश्य—सभी समाविष्ट हो जाते हैं।[11]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का लेखक बाणभट्ट नहीं है। कल्पनाओं के सम्बन्ध से यह उसकी सही जीवनी भी नहीं है, अपितु एक व्यवस्थित वस्तु-विन्यास, नियत पात्रों की सीमा में चरित्र की रेखाओं में प्राचीन और अर्वाचीन वातावरण के योग में एक सरस उद्देश्य की झांकी देता है। झांकी है गूढ़ और अव्यक्त प्रेम की जिसकी तृप्ति और निर्वाह एक समस्या है।

इन सब कारणों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आत्मकथा शैली में लिखा हुआ उपन्यास कहना ही अधिक समीचीन है। स्वयं लेखक ने इसे 'बहुत कुछ डायरी शैली' में लिखी हुई अभिनव रचना माना है। ऐसे प्रयोग पाश्चात्य साहित्य में तो हुए ही हैं, भारतीय साहित्य में भी बहुत हुए हैं। बँगला में स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'घर-

बाहर' इसी शैली में एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है। हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि उपन्यासकारों ने भी, यदि हू-बहू इस शैली का नहीं तो, इससे मिलती-जुलती शैली का प्रयोग किया है।

वर्णनपुष्ट कहानीमात्र

कभी-कभी आलोचक की कलम से यह आवाज भी उठ खड़ी होती है कि 'बाण-भट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा शैली में लिखी हुई वर्णनपुष्ट कहानीमात्र है। वास्तव में यह आवाज भी अपनी कुछ अहमियत रखती है क्योंकि आज जिस प्रकार उपन्यासकार छोटे-छोटे उपन्यास भी लिखते हैं उसी प्रकार कहानीकार बड़ी-बड़ी कहानियाँ भी लिखते हैं। आज की बड़ी से बड़ी कहानी किसी छोटे से छोटे उपन्यास से बड़ी हो सकती है, किन्तु कलेवर के आधार पर इस कृति का परखना उसके साहित्यिक तत्त्वों की उपेक्षा करना है। उपन्यास और कहानी का कलेवर किसी मौलिक अन्तर को स्पष्ट नहीं कर सकता। दोनों का मौलिक अन्तर संवेदना और घटना से सम्बन्ध रखता है। उपन्यास किसी घटना चक्र को लेकर चलता है और कहानी में उस चक्र के लिए कोई अवकाश नहीं होता। आज की कहानी तो घटना को छोड़कर किसी संवेदना के गर्भ से ही जन्म ग्रहण कर लेती है। फिर भी घटनाप्रधान कहानियों के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु अनेक घटनाओंवाली कहानियाँ 'लक्ष्यभ्रंश' के कलंक से मुक्त नहीं कही जा सकतीं। यदि बाणभट्ट की आत्मकथा को 'वर्णनपुष्ट कहानीमात्र' कहा जाये तो यह उसके टैकनीक के साथ घोर अन्याय होगा। यह मान्यता न केवल उसके साहित्यिक मूल्य की अवमानना होगी अपितु उसके कला-सौन्दर्य की क्रूर उपेक्षा भी होगी।

इसमें सन्देह नहीं है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में जो वस्तु-सूत्र संकलित किये गये हैं उनके जुड़ने से एक छोटा सा कथानक ही तैयार होता है और यह भी सही है कि इस छोटे से कथानक को वर्णनों का पूरा बल मिला है, किन्तु अनेक समस्याओं के साहचर्य के साथ जिन घटनाओं ने बाणभट्ट के व्यक्तित्व से अपना सम्बन्ध जोड़ा है वे मूल कथा के साथ कुछ प्रसंगों की सृष्टि भी करती चलती हैं। निउनियाँ के सम्पर्क से भट्टिनी की दुर्दशा का परिचय पाकर उसकी मुक्ति के लिए बाणभट्ट का प्रयत्न इस कृति की आधिकारिक कथावस्तु है तथा चंडीमंडप, अघोरभैरव एवं महामाया, सुचरिता एवं विरतिवज्र, कापालिक क्रिया आदि प्रासंगिक कथाएं हैं। इन्हीं से सारे उपन्यास का ताना-बाना तैयार हुआ है। वस्तु का यह सम्बन्ध-सूत्र इसको औपन्यासिक रोमांस के पद पर ही प्रतिष्ठित करता है।

इस विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' न तो इतिहास है, न जीवनी, न अर्द्ध कथा, न आत्मकथा और न वर्णनपुष्ट कहानी ही, वरन् एक साहित्यिक जादूगर के प्रातिभिक स्पर्शों का मनोहर एवं कुतूहलपूर्ण परिणाम है जो स्पष्टतः आत्मकथा शैली का रोमांस है जिसमें डायरी शैली का भी कुछ योग है।

नामकरण और उसकी सार्थकता—

अन्यत्र यह निर्णय किया जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा नहीं है। यह तो एक रोमांस है। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया है? इसका यह नाम रखने का क्या प्रयोजन है और क्या यह नाम सार्थक है? यह प्रश्न बहुत महत्त्व-पूर्ण है।

नामकरण के अनेक आधार हैं। किसी रचना का नाम वस्तु, किसी का विषय, किसी का पात्र, किसी का स्थान, किसी का गुण और किसी का नामकरण सम्प्रदाय, परि-स्थिति या भाव के आधार पर रखा जाता है। इनके अतिरिक्त नामकरण के और भी बहुत से आधार हैं। साकेत, पंचवटी, पद्मावत, रत्नावली, मृगनयनी, टेसू के फूल, रघुवंश, प्रियप्रवास, रजनीगंधा आदि नाम उक्त आधारों पर ही रखे गये हैं।

प्रस्तुत कृति का नामकरण इसके प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर हुआ है। बाण-भट्ट इस कथा का नायक है जिसमें उसके जीवन की घटनाओं का विवरण है, परन्तु इस नाम ने साहित्य जगत में एक भ्रांति फैला दी है। इस नाम से पाठक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसको कुछ आलोचकों ने, कुछ दबी जबान से, 'साहित्यिक छल' कहा है, किन्तु मैं इसको कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष समझता हूँ। वास्तव में डा० द्विवेदी की यह बड़ी भारी सफलता है कि वे कल्पना पर इतिहास का मुलम्मा चढ़ाने में कृतकार्य दिखाई पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुलम्मे को हम सोना समझ रहे हैं। मुलम्मा चढ़ाने वाला यह कहता है कि "पहिचानो, यह नये ढंग का सोना है।" फिर भी हम उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इसके लेखक ने—

(१) इसकी सफलता का श्रेय बाणभट्ट को दे दिया है,

(२) बाणभट्ट की प्रतिभा के भीतर से आवाज दी है कि इसके बनाने वाले को पहिचानो,

(३) पाठकों के भ्रम को विश्वास में परिणित करने के लिए दीदी का साक्ष्य पैदा किया है, बाणभट्ट की शैली का अनुकरण किया है,

(४) गवेषकों के लिए एक समस्या पैदा कर दी है,

(५) साहित्य को एक अभिनव प्रयोग दिया है, और

(६) आलोचकों को मतभेद के लिए अवसर दिया है।

आत्मकथा-शैली नवीन नहीं है, किन्तु कथामुख और उपसंहार के तथाकथित प्रमाणों ने जादूगरी के असर से इस कथा को वास्तव में एक 'अभिनव प्रयोग' सिद्ध कर दिया है। निबन्धों, कहानियों, जीवनियों और उपन्यासों में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। आत्मपरकात्मक निबन्धों में एकमात्र लेखक ही पात्र होता है। उनमें चिन्तन को आधार-

शिला होती है तथा कोई उद्देश्य दृष्टिगत नही होता। आत्मकथात्मक कहानियो मे पात्र तो और भी हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य अवश्य होता है। भावना का प्राधान्य और वर्णन-प्राचुर्य अपेक्षाकृत कम होता है। संवेदना लेखक के अन्तर की होती है। जीवनी जब लेखक की अपनी होती है तो वह आत्मकथा बन जाती है, किन्तु नायक की कहानी नायक की जबान से वर्णित होने पर एक अन्य शैली का रूप ले लेती है। 'शेखर एक जीवनी' इसी प्रकार की कृति है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' बाणभट्ट की कहानी है, जिसको पं० हजारीप्रसादजी ने लिखा है। उन्होने 'परात्मप्रवेश' की बात कही है जो इस नामकरण मे सार्थक हो रही है। समझनेवाले इससे यह भी समझ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मा डा० द्विवेदी मे प्रविष्ट होकर अपनी कहानी कह रही है, किन्तु मैं यह समझता हूँ कि डा० द्विवेदी बाणभट्ट के अन्तर मे प्रवेश करके जो कुछ टटोल लाये है, उसी को हमारे सामने लिखकर रख रहे हैं। डा० हजारीप्रसाद जी द्वारा बाणभट्ट के अन्तर की गवेषणा के दो पहलू हैं, एक तो ऐतिहासिक और दूसरा काल्पनिक या आनुमानिक। पहले पक्ष की ऐतिहासिक सामग्री बाणभट्ट की कृतियो या इतिहास के आधार पर जुटायी गयी है और दूसरे प्रकार की सामग्री वातावरण और परिस्थितियो के सदर्भ मे कल्पना या अनुमान से तैयार की गई है, जिसमे लेखक की अपनी अनुभूतियो की भी कुछ प्रेरणा रही है।

नामकरण की उपयुक्तता इसमे है कि वह आकर्षक हो, औत्सुक्य या कौतूहल-वर्धक तथा विषय या वस्तु से उसका तालमेल भी बना रहे।

इस 'नामकरण' मे आकर्षण का अभाव नही है। बाणभट्ट एक ऐसा व्यक्ति है जिसने *कादम्बरी*, *हर्षचरित* आदि ग्रन्थो की रचना करके संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि मे अपना अपूर्व योग दिया है। संयोग की बात है कि बाणभट्ट अपनी किसी भी कृति को पूर्ण न कर सका। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा का नाम सुनते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं। सहसा उसके मस्तिष्क मे यह विचार कौंध जाता है कि जो व्यक्ति अपनी किसी कृति को पूरी न कर सका, क्या वह अपनी आत्मकथा पूरी कर सका होगा? वह यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि जो इतना बड़ा कवि था उसके जीवन-पट का [illegible] तथा किन किन परिस्थितियो ने उसके कार्य को अधूरा रखवा दिया होगा। इस जिज्ञासा के मूल मे यही नाम है, अतएव इसका आकर्षण स्पष्ट है। सही बात तो यह है कि औत्सुक्य या कौतूहल के मूल मे बाणभट्ट की ऐति[illegible] या साहित्यिक प्रसिद्धि है। जिसके सम्बन्ध मे इतिहास भी कुछ अधिक न लिख पाया उसकी आत्मकथा न केवल इतिहास के पन्ने बढानेवाली होगी, वरन् उसको नूतन प्रकाश भी देगी। इस कौतूहल को लेकर श्रोता पर पाठक की धुन सवार हुए बिना नही रह सकती।

कथामुख में प्रवेश करने पर तो नामकरण का आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। दीदी का प्रसंग एक इन्द्रजाल है, जो शीर्षक की मोहकता तथा महत्ता को कहीं अधिक बढ़ा देता है। उपसंहार वास्तव में कथामुख का ही परिशिष्ट है और वह भी नामकरण के महत्त्व को प्रतिष्ठित करता है।

जो नाम कथावस्तु की यथातथ्यता में विश्वास को दृढ़ कर देता है वह सार्थक है और जो वास्तविकता का साक्षी नहीं होता, वह सार्थक नहीं होता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', नाम को सुनकर ऐसा बोध होता है कि आत्मकथा का लेखक बाण है। बाण ही नायक है और उसी से सम्बन्धित कथा चलती रहती है। नाम का बस इतना ही काम है और वह इसकी पूर्ति करता है, अतएव सार्थक है।

४. कथा-वस्तु

यह कथा कादम्बरी तथा हर्षचरित के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट को कथानायक बनाकर अग्रसर हुई है। इसमे लेखक ने बाण के चरित पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री का संकलन और उपयोग तो किया ही है, साथ ही काल्पनिक प्रसगो की प्रचुर उद्भावना ने भी उसकी गठन-कला को सहयोग दिया है। 'हर्षचरित' से पता चलता है कि बाण अपने कौमार्य मे ही माता-पिता के सरक्षण से वचित होकर कुछ-कुछ उच्छृखल हो गया था। इस अवस्था मे उसकी कुछ शैशवकालीन चपलताएँ भी सकेतित की गई हैं। बाण को देशाटन का बडा चाव था। अनेक देश-देशान्तरो को देखने के लिए उसका कौतूहल बढा और विद्या और सम्पत्ति की थाती होते हुए भी वह घर से निकल पडा जिससे वह बडो के उपहास का पात्र बना।

वह जिस ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुआ था उसकी अपनी निष्ठाएँ थी। फिर भी अपने साथियो मे विविध स्तरो और श्रेणियो के लोग सम्मिलित करके उसने अपनी उदारता और सदाशयता का परिचय दिया। उसकी मण्डली मे पुरुष और स्त्री, वैज्ञानिक एव कलाकार, बौद्ध भिक्षु तथा जैन-भिक्षु, गृहस्थ एव परिव्राजक—सभी प्रकार के लोग थे। बाण ने लम्बा देशाटन किया और अपने यात्रा-काल मे उसे राजकुलो, गुरुकुलो, गुणियो और विद्वानो के सम्पर्क मे आने का अवसर मिला।

सम्राट् हर्ष के चचेरे भाई कुमार कृष्णवर्धन के आमन्त्रण पर बाण हर्ष की राजसभा मे उपस्थित हुआ। उसका परिचय पाकर सम्राट् ने समीपस्थ मालवराज के पुत्र (माधव गुप्त ?) से कहा—"यह महान् भुजग है।" इससे बाण उद्विग्न हो उठा और अपने कुल और गुणवर्णन के साथ उसने राजा से पूछा—"राजा ने उसकी क्या लम्पटता देखी है ?" "हम लोगो ने ऐसा सुना था", यह कह कर सम्राट् चुप हो गया। उसने सम्भाषण, आसन आदि से बाण का सत्कार न करते हुए भी स्निग्ध दृष्टपात से अपनी अन्त प्रीति व्यक्त की। अपने निवास पर वापस लौटकर वह फिर सम्राट् के आमन्त्रण पर ही राज-भवन मे गया, जहाँ उसे प्रचुर सम्मान, प्रेम, विश्वास, धन और मित्रोचित परिहास की प्राप्ति हुई।

'हर्षचरित' मे बाण ने अपने कुल और स्वभाव का वर्णन करते हुए हर्ष के सम्पर्क का भी विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सरलता से अवगत हो सकता है कि विद्या, काव्य और कला के उपराम के साथ बाण को उदार हृदय भी उपलब्ध हुआ था। मानव

की दुर्बलता में अन्तर्निहित महत्ता का भी उसे सम्यक् बोध था। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के बाण का परिचय प्रेम और सौन्दर्य के आदर्शों से भी था, यह बात पाठक भली-भांति जान सकते हैं।

बाण के गुण, स्वभाव और सदाशयत्व को स्थापित करनेके उद्देश्य से ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की सृष्टि हुई है। बाण, हर्ष, कुमारकृष्ण, धावक, भर्वुशर्मा, राज्यश्री आदि कुछ पात्र इतिहास से अनुमोदित हैं, किन्तु इतर पात्रों के साथ अनेक घटनाओं और वर्णना की कल्पना में ऐतिहासिक वातावरण को प्रकाशित होने का समुचित अवसर मिला है। निपुणिका, भट्टिनी, महामाया, सुचरिता आदि अनेक पात्रों और उनके प्रसंगों की सृष्टि में लेखक की उर्वर कल्पना का महत्त्व अविस्मरणीय है। कल्पना ने इतिहास का संयोजन इस प्रकार से किया है कि ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र और तत्कालीन वातावरण के चित्रण में कोई असंगति नहीं आने पाई है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आत्मकथा के लेखक ने ऐतिहासिक बाण के चरित्र की स्थूल रेखाओं में कल्पना का कलात्मक रंग भर कर उसको पुनरुज्जीवित किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मकथा का केन्द्र-बिन्दु बाणभट्ट के व्यक्तित्व में निहित है। जो वात्स्यायन-वंश इतना प्रख्यात था, जिसमें बड़े उच्चस्तरीय पंडितों और विद्वानों ने जन्म लिया था, उसी में बाण का भी जन्म हुआ।

बाण चित्रभानु भट्ट का पुत्र था। चित्रभानु बड़े धर्मिष्ठ ब्राह्मण थे। वे ग्यारह भाई थे। बाण की माँ का देहावसान बाण के बाल्य-काल में ही हो गया था। बाद में चित्रभानु ने उसका लालन-पालन बड़े स्नेह से किया। बाणु अभी १४ वर्ष का ही था कि पिता भी स्वर्गवासी हो गये। उस समय उसके एक चचेरे भाई उडुपति ने, जो उम्र में बाण से बहुत बड़े थे, उसको उस स्नेह से सिंचित किया जो उसने बाल्यकाल में अपनी माता से पाया था। आयु में बहुत बड़े होते हुए भी उडुपति बाण के साथ समवयस्क का-सा व्यवहार करते थे। उस पर उडुपति का जितना प्रेम था उतना परिवार में उसके ऊपर और किसी का नहीं था। बाण को अनेक अवसरों से बचाने में उडुपति का विशेष योग था।

उडुपति प्रसिद्ध तार्किक थे। वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को शास्त्रार्थ में उन्होंने ही पराजित किया था। उनकी विद्वत्ता और सुचरित्रता का प्रभाव महाराजाधिराज हर्षवर्धन पर बहुत पड़ा था। उनके प्रभाव से ही महाराजा एकदम वैदिक मत की ओर प्रवृत्त हो गये थे।

पिता की मृत्यु के बाद उडुपति भट्ट की बड़ी अनुकम्पा होते हुए भी बाणभट्ट का वही हाल हुआ जो बहुधा बे-माँ-बाप के बच्चों का हुआ करता है। वह आवारा हो गया और नगर-नगर, जनपद-जनपद में बरसों मारा-मारा फिरता रहा। कभी वह नट बना,

कभी उसने पुतलियों का नाच दिखाया, कभी नाट्य-मण्डली संगठित की और कभी पुराण-वाचक का स्वांग रचा। उसे दो गुण प्राप्त थे—रूपवान था और बली भी था। उसके बहुविध कार्य-कलाप को देख कर लोग उसे 'भुजंग' समझने लगे थे।

एक दिन वह घूमता-घामता स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर में आ पहुँचा। नगर में बड़ी धूमधाम थी। राजमार्ग पर बड़ी भारी भीड़ थी, एक बड़ा जुलूस चला जा रहा था उसमें स्त्रियों की संख्या अधिक थी। अनेक नृत्य-गीत होते जा रहे थे। उस जुलूस को बाण-भट्ट चौराहे पर खड़ा होकर बड़े मुग्ध भाव से देखने लगा। भीड़ के दूर निकल जाने पर नगरवासियों से उसे पता चला कि महाराजाधिराज हर्षवर्धन के भाई कुमार कृष्णवर्धन के घर पुत्र-जन्म हुआ है और आज नामकरण-संस्कार होने जा रहा है।

उस समय बाण को अपना जीवन स्मृत हो आया। 'माँ गई, पिता गये और मैं अनाथ हो गया'—यह याद करके बाण का हृदय मचलने लगा। उसे याद आया कि मेरे जीवन में जो कुछ सार है वह मेरे पिता का स्नेह है। उसी से मैं बिगड़ा भी और बना भी। उसे शोक-संताप के अनुभव के साथ आत्म-ग्लानि भी हुई और उसके मन में आया कि पुत्र-जन्म के अवसर पर कुमार कृष्णवर्द्धन को बधाई दे आऊँ।

इस कामना ने उसे कुमार के भवन की ओर प्रेरित किया। मार्ग में निपुणिका की पान की दुकान थी। निपुणिका ने बाण को पहिचान लिया और उसके पुकारने पर उसने रुक कर देखा तो अपनी नाट्यशाला की निउनिया को देख कर वह विस्मय-विमुग्ध हो उठा। वह बाण को प्यार करती थी। अपने प्यार को ठेस पहुँची देख कर एक दिन वह नाट्य-मण्डली छोड़ कर भाग आई थी। उसके चले आने पर बाण ने अपनी नाट्य-मण्डली तोड़ दी थी।

अपनी विगत कथा कह चुकने के उपरान्त निउनिया ने बाण को बतलाया कि मौखरि-वंश के छोटे महाराज के घर में एक महीने से एक अत्यन्त साध्वी राजकुमारी अपनी स्वेच्छा के विरुद्ध आबद्ध है। फिर उसने डब डबाई आँखों से कहा—"भट्ट, वह अशोक-वन की सीता है—तुम उसका उद्धार कर अपना जीवन सार्थक करो।" नारी-शरीर को देव मन्दिर समझने वाला सहृदय बाण सहमत हो गया और स्त्री-वेष बना कर निउनिया के साथ राजगृह में पहुँच गया। दोनों के सम्मिलित प्रयास से राजकन्या का (जिसे बाण भट्टिनी कहने लगा था) उद्धार हुआ। बाण को ज्ञात हुआ कि वह विषम समर-विजयी, वाल्हीक-विमर्दन, अत्यन्त बाडव देवपुत्र तुवरमिलिन्द की आत्मजा है जो अत्यन्त दस्युओं से अपहृत होकर दुर्भाग्य के चक्र में पड़ गई है।

प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य सुगतभद्र ने भट्टिनी का समाचार जान कर कुमार हर्षवर्द्धन को बुलवाया और उसे समग्र स्थिति से अवगत करा दिया। भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर के

राजकुल से इतनी घृणा हो गई थी कि वह राजकुल से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के संरक्षण में रहने को तैयार न थी। निपुणिका और बाण के समक्ष राजदण्ड का भय था, अतएव भट्टिनी और निपुणिका को लेकर बाण ने मगध की ओर चले जाने का निश्चय कर लिया। कुमार कृष्णवर्धन का सहयोग पाकर एक नौका द्वारा गंगा के मार्ग से बाण मगध की ओर चल दिया। संरक्षण के लिए इन लोगों के साथ चुने हुए आभीर वीर थे।

चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ने पर ईश्वरसेन (आभीर सामन्त) के सैनिकों को इन पर सन्देह हो गया। नाव को पकड़ने के प्रयत्न में दोनों में युद्ध आरम्भ हो गया। इसी समय भट्टिनी गंगा में कूद पड़ी। उसे बचाने के लिए पहले निउनिया और फिर बाण भी कूद पड़ा। बड़ी कठिनाई से बाण भट्टिनी को किनारे पर लाया, किन्तु इस प्रयास में भट्टिनी के परमाराध्य महावराह की मूर्ति गंगा में ही विसर्जित करनी पड़ी। इस संकटकाल में उनको भैरवी महामाया की बड़ी सहायता मिली। निउनिया को खोजता हुआ बाण चक्र-तीर्थ पर कराला देवी के मन्दिर पर मोह मूर्च्छा लिता हुआ पकड़ा गया, जहाँ अघोर-घण्ट और चण्डमण्डना न उसे देवी के समक्ष बलि देने का अनुष्ठान किया। इसी समय भट्टिनी और निपुणिका के साथ महामाया वहाँ पहुँच गई, बाण की रक्षा की और उसे अघोर भैरव की शरण में ले गई। तीन दिन तक बाण मृत शून्य पड़ा रहा। सज्ञा लौटने पर उसने भट्टिनी और निपुणिका के साथ अपने को भद्रेश्वर दुर्ग के आभीर सामन्त लोरिकदेव का अतिथि पाया। इसके पश्चात् बाणभट्ट अकेला ही स्थाण्वीश्वर गया और कुमार कृष्णवर्धन की सहायता से वह राजा के समक्ष पहुँचा। पहले कुछ अवहेलना और उपेक्षा-भाव दिखाने के बाद राजा ने बाण का उचित सम्मान दिया और अपना राजकवि नियुक्त कर दिया। कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर ले आने के लिए बाण से अनुरोध किया और उसे समझाया कि वह भट्टिनी को सम्राज्ञी राज्यश्री का आतिथ्य स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करे।

बाण के भद्रेश्वर लौटने पर उसने यह समाचार पाकर निपुणिका बड़ी उत्तेजित हुई। यह प्रस्ताव भट्टिनी को भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। भट्टिनी की वास्तविकता का परिचय पाकर लोरिकदेव ने उनको एक समारोह में राजकीय सम्मान दिया। उधर आचार्य भर्वुशर्मा का वह पत्र, जिसमें यह सन्देश था कि 'प्रत्यन्त दस्यु पुन आ रहे हैं और कन्या के विरह में उदासीन देवपुत्र तुवर मिलिन्द को पुन युद्धभूमि के लिए प्रोत्साहित करने के लिये उनकी पुत्री का पता लगाया जाये', जन-जन में प्रचारित हुआ। अन्त में यह निश्चय किया गया कि लोरिकदेव के एक सहस्र सैनिकों के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र सम्राज्ञी के समान स्थाण्वीश्वर जायें और नगर से एक कोस की दूरी पर अपने स्कन्धावार में रहें।

इसी निश्चय के अनुरूप आचरण किया गया और कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी से मिलकर अपने सद्व्यवहार तथा मधुर भाषण से उनके मन के मैल को साफ किया।

कुमार ने शापित किया, "महाराज हर्षवर्धन की भगिनी (भट्टिनी) के प्रति अनुचित आचरण का उचित दण्ड मौखरि-वंश के छोटे राजा को अवश्य भोगना पड़ेगा।"

उस समय स्थाण्वीश्वर में उत्साह उमड रहा था। उसी समय वहाँ आचार्य भर्वुपाद भी आगये। उनके और महाराज के भट्टिनी के स्कन्धावार में आने के उप-लक्ष्य में बाण ने 'रत्नावली नाटिका' के अभिनय का आयोजन किया। बाणभट्ट स्वयं राजा बना, प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता रत्नावली बनी और निपुणिका वासवदत्ता की भूमिका में उतरी। बहुत सुन्दर अभिनय हुआ। निपुणिका ने उन्माद बरसा दिया। उसके हर्ष, प्रेम और शोक के अभिनय में वास्तविकता थी। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी, तो विचलित हो गई। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरतवाक्य समाप्त होते-न-होते वह धरती पर लोट गई। दर्शकों की 'साधु-साधु' की आनन्द ध्वनि से दिगन्त काँप उठा। उसी समय यवनिका के पीछे निपुणिका के प्राण उड़ने की तैयारी कर रहे थे। दौड़ कर भट्टिनी ने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और बहुत कातर होकर चिल्ला उठी, "हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया, उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया।" यह कहते कहते भट्टिनी पछाड खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोटने लगी।

निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वुपाद ने बाण को पुरुषपुर जाने का आदेश दिया और तब तक भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर में रहने का भी आदेश दिया। इस आदेश को सुन कर भट्टिनी का मुख विवर्ण हो गया और झुकी हुई आँखों को और भी झुका कर वे बाण से बोली, "जल्दी ही लौटना।" बाण ने कातर कण्ठ के वाष्परुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लिया, लेकिन उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

मूल कथा तो बस इतनी-सी ही है, किन्तु इससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रसंगों की कल्पना की गई है, जिनमे न केवल कथा विकसित होती है, वरन् वातावरण के निर्माण और चरित्र-वर्णन में सहायता मिलने के साथ साथ कथा की रमणीयता भी बढ़ती है। उ यिनी में निपुणिका के नृत्य और सौन्दर्य को देख कर उसमें 'मालविका-ग्निमित्र' की मालविका को सामने पाकर बाण का खिलखिलाकर हँस पड़ना, उसकी हँसी से आहत होकर निपुणिका का उसके आश्रय से भाग निकलना, प्रसिद्ध नर्तकी मदनश्री के यहाँ आश्रय लेना, मदनश्री का बाण के प्रति अनुराग, शर्विलक की दूकान पर निपु-णिका का बालक-वेश में मद बेचना, प्रत्यन्त दस्युओं द्वारा भट्टिनी के अपहरण की कथा, महामाया भैरवी तथा अघोर भैरव से बाण की भेंट, महामाया (राज्यश्री की सपत्नी)

द्वारा राजमहल छोड़ने और भैरवी बनने की कथा का वर्णन, सुचरिता और विरतिवज्र की कथा आदि अनेक प्रसंगों ने इस आत्मकथा को एक उद्देश्य और एक प्रभाव डालने की दिशा में प्रेरित किया है। उपर्युक्त प्रसंग बाण, भट्टिनी और निपुणिका से सम्बन्धित होने के कारण मुख्य कथा से दूरस्थ नहीं हैं, अथवा यह कहना अनुचित न होगा कि वे मुख्य कथा के ही अङ्ग हैं। वस्तुत महामाया, अघोर भैरव, विरतिवज्र और सुचरिता की कथाएँ भी कुछ स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं, किन्तु लेखक ने मूल कथा के साथ उनका ग्रथन बड़ी कुशलता से किया है, जिससे तत्कालीन धार्मिक वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायता मिली है।

४. रचना-शिल्प

बाणभट्ट की आत्मकथा रचना शिल्प, इतिहास, समकालीन जीवन, धर्म और कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। एक छोटे से कथावस्तु के ऊपर इतनी बड़ी रचना का खड़ा कर देना कोई सरल काम नहीं है। इस के बीज लेखक को 'हर्षचरित' के आदि में मिले हैं। इनका आरोपण ऐसे कौशल से किया गया है कि एक रम्य उपवन की सृष्टि हो गई है। 'हर्षचरित' में बाण के प्रारम्भिक जीवन के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिनसे उसके वंश का परिचय भी सम्मिलित है। हर्ष के वैभव सम्पन्न और नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ वर्णन-सूत्र उसी ग्रन्थ में इधर उधर और भी बिखरे मिल जाते हैं इन सबको सकलित करके आचार्य द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नींव डाली है, किन्तु इसके निर्माण में कल्पना के जिन सूत्रों से काम लिया गया है वे बड़े कुतूहल-वर्धक हैं। 'कादम्बरी', 'रत्नावली', 'हर्षचरित' से वर्णन लेकर कथा के तन्तु को पृथुलता में परिणित करने के लिए भी लेखक की ओर से बड़ा सफल प्रयत्न हुआ है। इस रचना को देखकर लेखक के शिल्पित्व के सम्बन्ध में चार प्रमुख बातें पाठक [illegible]

'हर्ष चरित' के प्रारम्भ में बाण से सम्बन्धित जो सूत्र लेखक के सामने आते हैं वे कल्पना के अभाव में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे किसी बड़े ग्रन्थ की रचना के लिए नितान्त अपर्याप्त थे किन्तु दीदी का प्रसंग, नये पात्रों की उद्भावना, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक वर्णनों की पेशलता और इतिहास की जन-जीवन की सेवा में नियुक्ति—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो शीघ्र ही लेखक की कल्पना से सबन्ध जोड़ लेती हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना कौशल के बिना नितान्त दीन हीन बनी रहती है और कौशल भी कल्पना के योग से ही अपना चमत्कार प्रकट कर सकता है। कभी कभी कल्पना और कौशल का इतना गहन सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों को अलग अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। यही कारण है कि दीदी के प्रसंग में कल्पना और कौशल का अलग-अलग विश्लेषण करना दुष्कर सा प्रतीत होता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कल्पना कौशल की आत्मा है। कौशल दीखता है और कल्पना कौशल को प्रेरित करने वाली शक्ति है। दीदी का प्रसंग और उससे सम्बद्ध छोटे मोटे उपप्रसंग कल्पना के बिना कौशल के किसी योग से इस रचना की निर्मिति में यह दुर्लभ योग नहीं दे सकते

थे। दीदी, (एक नहीं ऐसी दस दीदियाँ) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को बनाने में कदापि सफल नहीं हो सकती थी, यदि शोण के बालुकामय तट पर दीदी को 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की प्राचीन प्रति न मिली होती और उस प्रति का मिलना और न मिलना भी व्यर्थ होता, यदि दीदी ने उसके संशोधन और टंकण का कार्य लेखक को न सौंपा होता, अतएव 'बाणभट्ट की आत्म कथा' जैसी किसी रचना के प्रति पाठकों का विश्वास जमाने के लिए दीदी के साथ अनेक उपप्रसंगों की कल्पना आवश्यक थी। इस प्रसंग की कल्पना न केवल सम्भव है, वरन् विदग्धतापूर्ण भी है। कथा का उच्च प्रासाद कदाचित् अपूर्ण ही रह गया होता यदि इसमें आत्मकथा की कल्पना न की गई होती।

बाण की आत्मकथा जो 'हर्षचरित' की पंक्तियों के सिवा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है और बारह-तेरह शतियों के गर्भ में जिसका आज तक कोई भी कहीं खोज नहीं पाया है वह सहसा दीदी के हाथ लग जाये, यह कैसे विस्मय की बात है। सम्भवतः पाठकों का विश्वास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की सत्ता पर कभी न हो पाता यदि लेखक ने उसकी उपलब्धि का श्रेय अपने आप ले लिया होता। विदेशी महिला की अन्वेषण प्रवृत्ति और उसके गवेषणात्मक प्रयत्नों को 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के उपलाभ का श्रेय सौंपकर लेखक मानो विश्वस्त हो गया है कि उसकी कल्पना पर किसी अविश्वास के लिए अवकाश नहीं रहा है।

यदि यह रचना आत्मकथा न होती तो उसका यह स्वरूप पाठक को कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता था। इस अधूरे स्वरूप के लिए कथा के किसी अन्य स्वरूप में कोई अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त जो बाणभट्ट अपनी किसी रचना को पूर्ण न कर सका वह आत्मकथा को कैसे पूर्ण कर सका, इस विस्मयात्मक सन्देह के शमन के लिए सम्भवतः लेखक के पास कोई उत्तर न होता। इस कारण आत्मकथा के रूप में ही इस रचना का पर्यवसान समीचीन समझा गया।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रसंग मूल कथा के पट के प्रमुख सूत्र हैं। ये दोनों पात्र कल्पना प्रसूत हैं, किन्तु इन दोनों पात्रों का सम्बन्ध थानेश्वर से हो जाने के कारण वे बाण की ऐतिहासिक यात्रा के एक अङ्ग से बन जाते हैं। यह ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि बाण सम्राट् हर्षवर्धन से मिलने के लिए उनके दरबार में गया था। इसी ऐतिहासिक सूत्र की आड़ में लेखक ने बाणभट्ट के साथ निपुणिका—वियुक्त निपुणिका और भट्टिनी के सम्बन्ध-सूत्र को तैयार किया है। कल्पना का यह सूत्र भी बहुत प्रौढ़ है क्योंकि इसके बिना दीदी का प्रसंग-सूत्र भी व्यर्थ सिद्ध हुआ होता। यह सूत्र दूर तक आगे तक बढ़ा चला जाता है। मैं समझता हूँ आत्मकथा का पर्यवसान इसी सूत्र के किनारे पर होता है।

राज्यश्री भी ऐतिहासिक पात्र है। वह महाराज हर्षवर्धन की बहिन है। उसके पति को शत्रुओं ने मार डाला था। राज्य श्री को प्राप्त करके, कहा जाता है, हर्षवर्द्धन

ने उसके साथ शासन की बागडोर संभाली थी। इस सूत्र को कूट-पीट और रगकर लेखक ने कथा-पट मे इस प्रकार विनिविष्ट किया है कि धार्मिक और राजनीतिक वातावरण को व्यक्त होने के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया है।

सुचरिता कल्पित पात्र है। इससे मूल कथा के विकास को विशेष योग नही मिलता, फिर भी धार्मिक और सामाजिक वातावरण को सामने लाने मे सुचरिता के प्रसग का योग विस्मरणीय नही है। यो तो और भी कल्पना सूत्रो ने अपने अपने ढग मे आत्मकथा के निर्माण म योग दिया है, किन्तु कल्पना के वैभव का अनुमान इन तीन चार सूत्रो मे भली भाँति हो सकता है।

लेखक की कल्पना को एक बहुत बडा सहारा वर्णनो से मिला है। यह रचना वस्तुत वर्णन-समृद्ध है। कुछ आलोचको को यह कहते हुए सुना जाता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वर्णनो के अतिरिक्त है क्या ? और वर्णन भी प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे लिए हुए हैं। मैं उनके मत का आस्वादन नही कर सका हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आत्मकथा वर्णन-पुष्ट कथा है, किन्तु न तो इसके वर्णन ही सर्वस्व हैं और न वर्णन पराये रह गये हैं। जिन वर्णनो को लेखक ने 'कादम्बरी', 'हर्षचरित्' अथवा 'रत्नावली' से लिया है, उनको इस प्रकार और ऐसे स्थानो पर आत्मसात् और नियोजित किया है कि वे लेखक की अपनी सम्पत्ति बन गये हैं। सस्कृत साहित्य के प्रचुर भडार का उपयोग भला किस गण्य-मान्य साहित्यकार ने नही किया। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी आदि अनेक कवियो के उदाहरण इस सबन्ध मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जिस प्रकार इन कवियो ने सस्कृत के भडार का उपयोग किया है उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक ने भी किया है। इस कारण आलोचको का उक्त तर्क आस्वाद्य नही है। लेखक ने इन वर्णनो को जो स्थान दिया है और उनसे जिस अवसर पर सेवाए ली हैं, वह कल्पना कौशल की सम्मिलित सम्पत्ति हैं। इसके अतिरिक्त वर्णनो को भाषा की जो प्राजल सुकुमारता प्राप्त हुई है वह भी लेखक की लेखनी के गौरव के साथ उसकी क्षमता को प्रमाणित करती है।

यही वर्णन प्राचुर्य दोष नही है, वरन् गुण है। वर्णन भावो को रूप प्रदान करते हैं, परिस्थितियो का चित्रण करते हैं और दृष्टिकोणो का अङ्कन करते हैं। हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म सम्पत्ति वर्णनो में व्यक्त होकर ही सौन्दर्य का साक्षात्कार करती है। 'आत्मकथा' के वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं हैं, वरन् इनमे चरित्र को चमकाने वाली ज्योति जलती दिखाई पडती है, जिससे पाठक कही सिहरता है, कही हँसता है, कही आँसू बहाता है और कही उत्साह से उल्लसित होता है। इन वर्णनो मे होकर लेखक हमे एक ओर कथा की ओर ले जाता है और दूसरी ओर परिस्थिति या वातावरण की ओर। जो वर्णन चरित्र को प्रस्तुत करते हैं, परिस्थितियो का निरूपण करते हैं और

समाज की गति विधि पर प्रकाश डालते हैं वे 'केवल वर्णन' के लिए कैसे कहे जा सकते हैं।

वर्णन-प्राचुर्य दोष की सीमा में वहां पहुँचता है जहां लेखक का कौशल शिथिल हो जाता है, जहाँ उसकी कल्पना का दिवाला निकल जाता है और जहां उसकी मेधा का अवरोध हो जाता है। तिल का ताड़ कर देना वही पर दोष पूर्ण प्रतीत हो सकता है जहां ताड़ के रूप मे तिलत्व विनिष्ट हो जाय, किन्तु जहां 'तिलत्व' और 'ताड़त्व' का सम्मिलित स्वरूप सौन्दर्य-श्री का उत्कर्ष बढ़ाने वाला हो वहाँ उसको दूषण कहना न्यायोचित नहीं है। 'आत्म कथा' के वर्णनों मे जिन चुटीले व्यंग्यों, करुण प्रसंगों, उत्साह स्फूर्जाओ और मंजुल परिष्कृत भावनाओ को व्यक्त होने का अवकाश मिला है वे किसी देश और जाति की संस्कृति का प्रकाशन ही नहीं करतीं अपितु मानव की सामान्य निगूढ़ निधि का द्योतन भी करती हैं, अतएव 'आत्मकथा' के वर्णनों में प्राचुर्य-भाव दोष नहीं, केवल गुण है।

यह कहा जाता है कि प्रबन्ध रचना का सारा दारोमदार कथा के मर्मस्थलों की अवगति पर आधृत होता है। लेखक की बोध-शक्ति कथा के उन स्थलों को खोज निकालती है जो महत्वपूर्ण होते हैं। कथाकार सारे जीवन को घटना क्रम से चित्रित नहीं कर सकता, अपितु कुछ मर्मस्पर्शिनी घटनाओं को लेकर इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें जीवन की समग्रता आभासित हो जाती है। सभी कथाकार इस कर्म में कुशल नहीं होते, प्रत्युत्त कुशल कथाकार ही इस कर्म में सफलता प्राप्त करते हैं। आचार्य द्विवेदी जी बड़े कुशल कलाकार हैं। उन्होंने इसी परिपार्श्व में बाणभट्ट के जीवन का चि परिकल्पित कर लिया है। बाणभट्ट के आवारापन से प्रारम्भ करके निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता आदि के जीवन की झाँकियां प्रस्तुत करते हुए लेखक ने जो मर्मस्थल प्रदर्शित किये हैं, व न केवल बाणभट्ट के आवारापन के कालुष्य का परिमार्जन करते हैं, वरन् उसकी उदारता, सहृदयता, सदाशयता, वीरता और कर्त्तव्य परायणता पर मंजुल मोहक प्रकाश भी डालते हैं। अनेक स्थल कथा में ऐसे आते हैं, जहाँ पाठक का शरीर कंटकित हो जाता है। जब निपुणिका भट्टिनी की दयनीयता का वर्णन करती है, तब कथा के उस वर्णन में करुणा का साक्षात्कार न करना असंभव हो जाता है। जब बाणभट्ट वेश बदल कर भट्टिनी को छुड़ाने जाता है तब कुतूहल और उत्सुकता का जो सम्मिलित भाव पाठक के मन में मचलता है, वह मर्मस्थल का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

महाराज हर्षवर्द्धन की सभा में या कुमार कृष्णवर्द्धन के सामने बाणभट्ट अपनी जिस निर्भीकता का आश्रय लेता है वह बड़ी लोमहर्षक प्रतीत होती है। सुचरिता और राज्यश्री के जीवन की चरमाभिव्यक्ति जिन घटनाओं में होती है वे भी कथा की लोमहर्षक मर्मस्थलियाँ हैं।

भट्टिनी को भेजने के प्रस्ताव के समय जो वातावरण प्रस्तुत होता है वह भी पाठक के रोंगटे खड़े कर देता है। और तो और, छोटी से छोटी घटना में लेखक ने मर्म-स्थल की खोज की है। चण्डी मण्डप के परिपार्श्व में साधना-गृह में लेखक ने जिस परिस्थिति का चित्रण किया है, उसका परिचय इन शब्दों से मिल सकता है—'उसने कड़क कर पूछा—इस साधना गृह में चोर की भांति घुसने वाला तू कौन है ?' इसका कुछ अनुमान बाणभट्ट के इन शब्दों से भी लगाया जा सकता है–'परदेशी हूँ मात, अपराध क्षमा हो।'

एक दूसरा उदाहरण वज्रतीर्थ का है जहाँ बाणभट्ट विकट परिस्थिति में फंस जाता है। परिस्थिति का अनुमान इन शब्दों से कर सकते हैं —'अघोरघण्ट ने आदेश दिया, "जो तेरा सबसे प्रिय है, उसका ध्यान कर।" मुहूर्त भर में भट्टिनी की कोमल कांत मुखच्छवि मेरे सामने उपस्थित हुई। मैं कातरतापूर्वक चीख उठा—"मैं भट्टिनी को निर्जन शरकान्तार में छोड़कर बलि होने जा रहा हूँ।" इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मर्मस्थलियों का नियोजन बड़ी कुशलता से किया है। वह जानता है कि कथा में किस स्थल पर मर्म-स्पर्शी वर्णन-चित्र प्रस्तुत करना चाहिये और किस स्थल पर नहीं।

यह तो पहले ही कह दिया गया है कि लेखक भाषा का धनी है। कबीर की भाषा पर अपना मत देते हुए लेखक ने एक स्थान पर लिखा है—'कबीर भाषा के डिक्टेटर थे।' मैं इस वाक्य को डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए प्रयुक्त कर सकता हूँ। वे भाषा के डिक्टेटर है। उनके कोमल से कोमल वाक्य में विलक्षण तीखापन है और उनका छोटे से छोटा वाक्य सीधा मर्म का स्पर्श करता है। इसमें सन्देह नहीं कि कथावत् वर्णन प्राचुर्य, कथा के पोषण के लिए है, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि लेखक का भाषाधिकार भी इस पोषण का प्रेरक है। जो हो कल्पना, मर्मस्थलों का परिचय, वर्णन-प्राचुर्य और भाषाधिकार सभी दृष्टियों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अनूठी रचना है।

'आत्मकथा' की कथावस्तु को देखकर पाठक उसकी ऐतिहासिकता और काल्पनिकता के बीच एक उलझन में पड़ सकता है। न तो यह कहा जा सकता है कि उसमें ऐतिहासिक तत्व नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उसमें कल्पना का प्राधान्य नहीं है। इस कृति को 'मिश्र रचना' का नाम देना ही अधिक उपयुक्त है, किन्तु यह नहीं भुला देना चाहिये कि वस्तुतः यह एक कल्पना प्रधान रचना है। यह ठीक है कि बाणभट्ट, हर्षवर्द्धन, राज्यश्री आदि कुछ पात्रों के साथ कुछ कथा-सूत्र ऐतिहासिक हैं, किन्तु सारी कथा बाण भट्ट से सम्बद्ध होती हुई भी निपुणिका और भट्टिनी से संचालित होती है और ये दोनों पात्र काल्पनिक हैं। यदि कल्पना की इन दोनों पुत्तिकाओं को कथा से निकाल लिया जाये तो केवल वही बाणभट्ट हमारे सामने आयेगा जो 'हर्षचरित'

म मिलता है, इसलिए कथा-भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है, यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तंतुओं से इस 'आत्मकथा' के जाल का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं म वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। वे वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास मे स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन शुद्ध इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है, किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है, जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' म आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिन अघोर भैरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' के भैरवाचार्य हैं। प्रभाकरवर्द्धन, गृहवर्मा, दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे 'हर्षचरित' और कादम्बरी मे आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक जटिलता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है, उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना, कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं, किन्तु इतिहास मे ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो भी हो, साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हलकी सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा लेता है, किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता को बट्टा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं, किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

कार्य, इतिहास को खण्डित किये बिना नही किया जा सकता। साहित्य इतिहास के साथ कोई समझौता कर सकता है, किन्तु वह भावना, कल्पना और उद्देश्य कदापि नही छोड सकता और इतिहास अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए इन पर कभी आश्रित नही हो सकता। बस यही कसौटी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता को परखने मे सहायक हो सकती है। यह रचना भावना की पीठिका पर कल्पना और उद्देश्य की प्रेरणा से विकसित हुई है, इसलिए यहाँ इतिहास का स्वाभिमान निश्चित रूप से खण्डित हो गया है। फिर भी इतिहास मे इसका पुट न देखना अनुचित होगा। ऐतिहासिकता के पुट को तो साहित्य कही भी स्वीकार कर सकता है। नामो और तिथियो के अतिरिक्त, ऐतिहासिकता का पुट घटनाओ और वर्णनो मे भी दिया जा सकता है। साहित्यगत वातावरण भी ऐतिहासिक पुट को स्वीकार कर लेता है। ऐतिहासिक पुट की ये पाँच अवस्थाएँ किसी भी साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक होने का अधिकार दे सकती हैं, किन्तु इस अधिकार मे उद्देश्य की दिशा और कल्पना का स्पर्श रहने के साथ साथ, भाव-तरलता भी स्मरणीय है।

बाणभट्ट की आत्मकथा एक समस्यामूलक रचना है। इसकी प्राण प्रतिष्ठा आदर्श मे है। इसका लक्ष्य उद्धार के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। इस उद्धार का एक पक्ष नारी-उद्धार है। नारी की दुर्दशा के विविध पहलुओ को चित्रित करके लेखक ने उसके उद्धार की दिशा का सकेत किया है। जब तक समाज का पुरुष वर्ग अपने को ऊँचा समझता रहेगा तब तक नारी के जीवन को उचित मूल्य नही मिल सकता। 'नारी-शरीर' देव-मन्दिर है, इस भाव के प्ररूढ होते ही नारी के कल्याण का मार्ग मार्जित हो जाता है।

इसके साथ उद्धार का दूसरा पक्ष प्रेमोद्धार है। प्रेम इस युग मे अपने रूप और रग को अधिक तेजी से बदलता जा रहा है। नारी के सबन्ध से उसमे कही तो वह आभा मिलनी चाहिये जिसे पावन और उज्ज्वल कह सकते हैं। निपुणिका, भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम ने इसी आभा की उज्ज्वलता और पावनता की प्रतिष्ठा करके प्रेम के उद्धार का मार्ग प्रदर्शित किया है।

उद्धार का तीसरा पक्ष धर्मोद्धार है। धर्म अपने उदार रूप म परमात्मा का समकक्ष है, किन्तु अपने कुत्सित, सकीर्ण एव अपावन रूप म विकृत पकिलता से बिल्कुल भिन्न नहीं है। धर्म का दलदल न केवल रूढिवादी को फँसा बैठता है, वरन् दूसरे लोग भी उसमे आकर फँसे बिना नहीं रहते। ऐसा धर्म उस छूत की बीमारी के समान भयानक है जो जन-जन मे फैलती चली जाती है। धर्म की व्याख्या किसी रूढि में नहीं बाँधी जा सकती और न रूढि से धर्म के उदार स्वरूप को अनावृत ही किया जा सकता है। उदार धर्म वह धर्म है जो मनुष्यमात्र के अन्तर्दाह को शान्त करके शीतलता और शान्ति

प्रदान करता है। न तो धर्म का उद्धार मनुष्य और समाज को किसी घिसे-पिटे मार्ग पर ले चलने में है और न 'अपनी अपनी डफली, अपने-अपने गीत' में ही धर्म का स्वरूप सुरक्षित रहता है। भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता और भट्ट में जिस भाव का निश्छल आविर्भाव होता है, वह धर्म से भिन्न नहीं है। अतएव धर्म का उद्धार उसको विकृतियों और कुंठाओं से मुक्त करने में है।

उद्धार का चौथा पक्ष देशोद्धार में निहित दिखाई देता है। देश का उद्धार किसी एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। जब देश का जन-जन इस दिशा में प्रगति करेगा तभी देशोद्धार होगा। वेतन-भोगी सेना क्या कभी देश की रक्षा कर सकती है? इतिहास के उदाहरणों से लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेतन-भोगी सेना जन-सहयोग के बिना अशक्त और अक्षम है। कलाकार, साहित्यकार, साधक, नर और नारी सबका योगदान देश-रक्षा में अनिवार्य है। साधक-साधिकाओं को भी देश-रक्षा का भार स्वीकार करना चाहिये। साहित्यकार प्रेरणास्पद साहित्य की सर्जना से अपना योग दे सकता है। इसी प्रकार और लोग भी देश की रक्षा में अपना-अपना योगदान देकर देश के सम्मान और गौरव की रक्षा कर सकते हैं।

लेखक का उद्देश्य शिथिल समाज में चेतना फूंकना था और वह उक्त चार उद्धार-पक्षों का चित्रण करके मानों कृतकृत्य हो गया है। इस उद्देश्य की सफलता में उसकी शैली का अपूर्व योग रहा है। 'आत्मकथा' की सम्पूर्ण-घटनाओं में भी लेखक ने जिस नाटकीयता से काम लिया है, वह पाठक की रुचि को आबद्ध करने में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त उसने कथा-प्रसंगों को इधर से उधर और उधर से इधर बिखेर करके पाठक के कुतूहल-संवर्धन की अमोघ चेष्टा की है। भाव की रसमय तरलता, भावों का प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजन, व्यंग्यों और हास्यों का सरल पुट और सामान्य वार्तालाप में मस्त विनोद की तरल लहर से लेखक पाठक के मन को खींचता चला जाता है। इस प्रकार वातावरण की अपूर्व सृष्टि, पात्रों का कुशल चयन, वातावरण का प्रभाव, चरित्र मोहक चित्र पैदा करके सरल भाषा में जिस उद्देश्य की अभिव्यक्ति की गई है वह रचना को सुन्दर बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

५. ऐतिहासिक आधार

इतिहास की दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रामाणिक इतिहास की धारा तथा भावनात्मक अनुभूत इतिहास की धारा। इन्हीं दो धाराओं में आत्मकथा-गत इतिहास-वाद प्रवाहित होता है। सच तो यह है कि इस कृति के गठन में इसकी इतिहास-धर्मिता का बहुत बड़ा योग है। इतिहास केवल पात्रों और घटनाओं को ही प्रस्तुत नहीं करता है, वरन् काल, संस्कृति और लोक के बोध का मूर्त्तीकरण भी करता है।

आत्मकथा के दो रूप होते हैं—एक वास्तविक और दूसरा कलात्मक। कलात्मक आत्मकथा के भी दो रूप दिखाई देते हैं—एक ऐतिहासिक आत्मकथा और दूसरी सम-सामयिक। इनमें से किसी भी प्रकार की आत्मकथा लिखने में रचना का गठन प्रतिबद्ध हो जाता है और लेखक को कुछ सीमाओं में आबद्ध होकर काम करना पड़ता है। इससे कला को जो रूप मिलता है उसमें वर्णन और संवाद का गंगा-जमुनी रूप विकसित होता है। इसी रूप में औपन्यासिकता और नाटकीयता का मधुर मिलन होता है। लेखक जिस काल और स्थान में है वह उसी का निरूपण कर सकता है, दूसरे स्थान पर क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होने वाला है और उसके चरित नायक से दूर क्या कुछ हुआ है—इन प्रश्नों से उसका सीधा संबंध नहीं होता, अतएव वह उन्हें अपनी कृति में समाविष्ट नहीं कर सकता, जबकि उपन्यास और नाटक में इनके समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश होता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा में यह बात बड़े अवधान से विचारने की है। ध्यान रखने की बात है कि दुबारा, तिबारा स्थाण्वीश्वर में पहुँचने पर भद्रेश्वर लुप्त हो गया है। लेखक ने बाण, निपुणिका और भट्टिनी के द्वारा जो यात्राएं करायी हैं, वे थानेसर और भद्रेश्वर से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। भविष्य की घटनाओं की सूचना के लिए नियति-वाद की प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं छोड़ी गई है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना—यह उपन्यास केवल उपन्यास के लिए नहीं लिखा गया। इसके पीछे काल, संस्कृति और लोक-बोध आदि की अनेक पृष्ठभूमियाँ साकार करने का प्रयत्न है।

इस रचना का गठन बड़ा वक्र और जटिल है। इसलिए दृश्यपटल के पुन:-पुन: परिवर्तन की आवश्यकता कम ही होती है, हाँ, उनकी आवृत्तियाँ होती हैं। इतिहास-दृष्टि के कारण यात्रा के विभिन्न पहलू बड़ी सरलता से प्रकाश में ला दिये गये हैं। लेखक ने इन पहलुओं को प्रकाशित करने के लिए अनेक माध्यम अपनाये हैं, जिनमें दिवास्वप्न, संस्मरण, और कलात्मक विवेचन प्रमुख हैं। इतिहास की भूमिका पर अनेक दृश्य-पटल

कला के संसर्ग से अपने माधुर्य का अनावरण करते चले आते हैं। तीन मास के अन्तराल में सात दिन की कथा को केवल कुछ स्थानों से सम्बद्ध करके लेखक ने अनेक युगों के चित्र उतारने के लिए जिस कौशल का परिचय दिया है, उसमें समाहार-क्षमता का विशेष याग है। पार्वती, लक्ष्मी, सीता से लेकर भरतमुनि, कालिदास, शूद्रक, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ग्रहवर्मा और हर्षवर्धन आदि के युगों का जो चित्र खींचा है, उसमें मिथक-युग से लेकर ई० की सातवीं शती तक के विशाल काल की झांकियाँ मिलती हैं। ११-१२ सौ वर्ष का विशाल युग सात दिन की कथा में टिमीभूत करना जादूगर के काम से कम कौशल की बात नहीं है।

यह माना जा सकता है कि इस विशाल काल की परिसीमाओं में चित्रित बाण का समग्र चरित्र घटित या प्रामाणिक (इतिहाससम्मत) न हो, किन्तु 'घटनात्मक इतिहास' के नीचे वातावरण में रूपायित 'भावनात्मक इतिहास' कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। युग-जीवन की रूपावलि में, चाहे ऐसी घटनाओं के लिए कोई स्थान भले ही न रहा हो, किन्तु सम्भावनाओं की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। घटनाओं की संभावना में जो प्रवृत्तिमूलकता निहित है वही भावनात्मक इतिहास की दिशा है और वही एक पात्र की आत्मकथा की ऐतिहासिकता है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में 'घटनात्मक अनुभवों' की गवेषणा इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी 'भाव-कथा' की गवेषणा। भाव-कथा को पहचानने वाली दृष्टि से ही 'कलात्मक इतिहास' के लेखन की प्रेरणा स्फुरित होती है।

हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के सिवा अन्यत्र कहीं भी तो बाण की जीवनी के संकेत नहीं मिलते हैं, इसलिए बाण स्वयं एक चारित्रिक मिथक (myth) है। क्या वह पुरुष में विरही-पक्ष की कल्पना नहीं है? क्या इस मर्यादा में पुरुष-तेज की कल्पना नहीं है? यदि है तो कल्पना-प्रसूत बाण भी शाश्वत है। वह डा० द्विवेदी के भावों में ही नहीं, किसी व्यक्ति (भावुक) की कल्पना में जन्म ले सकता है। ऐतिहासिक परिपार्श्व और सांस्कृतिक वातावरण प्राप्त करके बाण किसी भी युग में पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। 'आत्मकथा' का बाण इसी प्रकार से पुनरुज्जीवित हुआ है। उसके अनेक शील-संभार में लेखक का प्रक्षेपण ही नहीं, प्रतिबिम्ब भी है। बाणभट्ट एक ऐसा 'आदर्श' है जिसमें तद्युगीन संस्कृति और कला को प्रतिबिम्बित होने का पूर्ण अवसर मिला है। वह जिस परिसंवादात्मक या आलोचनात्मक पद्धति का आश्रय लेता है उसमें उसके संस्कृति-प्रवक्ता का का सुप्रौढ़ रूप निहित है। बाण का प्रवक्तृत्व ही तो सांस्कृतिक इतिहास के रूप को ढालता है।

बाण और हर्ष, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु उनसे संबंधित बहुत सी घटनायें काल्पनिक हैं अथवा आत्मकथा की अधिकांश घटनायें अनैतिहासिक हैं। कुमार कृष्ण और महाराज हर्ष घटनात्मक इतिहास के पात्र हैं, किन्तु आत्मकथा में उनके सदय से

जितनी घटनाएं प्रस्तुत को गई हैं उनमे से बहुतों मे इतिहास को खोजना व्यर्थ है, फिर भी ऐतिहासिक समस्याओ की काल्पनिक घटनाओ द्वारा चित्रित करने मे उनका प्रमुख योग है। वे 'वर्तमान' के इतिहास को तत्कालीन राजनीति के चित्रपट पर दिखलाते हैं। अग्रहार ब्राह्मणों को भूमि देकर पूर्वीय सीमा पर अशान्ति को दबाना, उत्तर की सीमा पर दस्युओ को पराजित करना, गुणी लोगों को राजसभा में एकत्र करना आदि वर्णनो मे तत्कालीन समस्याओ का प्रतिफलन स्पष्ट है। उनमे तत्कालीन इतिहास है, किन्तु राजनीतिक समस्याओ के अतिरिक्त धार्मिक साधनाएं भी अपने ऐतिहासिक रूप मे अवतीर्ण हुई हैं।

अघोरभैरव, सुगतभद्र, वसुभूति, वेंकटेश भट्ट आदि की धर्म-साधनाओ के पट पर बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि धार्मिक सम्प्रदायो और उनकी साधना-पद्धतियों को रूपायित किया गया है। लेखक के इस प्रयत्न मे 'धर्म का समाजशास्त्रीय रूप' प्रस्तुत करने की चेष्टा स्पष्ट है। भट्टिनी और निपुणिका सामाजिक जीवन मे नारी के स्थान की मीमांसा करती हुई अनेक प्रश्न उठाती हैं और ये प्रश्न बड़े क्रान्तिकारी हैं। उन्ही प्रश्नो मे प्रणय भी अपनी समस्या लेकर प्रस्तुत हुआ है।

इतिहास के चित्रपट पर मूर्ति, शिल्प, काव्य, चित्र, नृत्य, स्थापत्य आदि से संबंधित कलाओ को अनेक परिप्रेक्ष्यो मे प्रदर्शित किया गया है। बाण इनमे विशेष रुचि रखता है। वह कला-समीक्षा, ज्योतिष, राजसभा-व्यवहार आदि मे भी निपुण है। अनेक कल्पितसदर्भो मे हर्ष-कालीन कलाओ और विद्याओ के रंगीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। संस्कृति के विविध पक्षो को चित्रित करती हुई 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'संस्कृति का विश्व-कोष' बन गई है। इस प्रकार यह रचना न केवल घटनात्मक इतिहास को उद्घाटित करती है, वरन् धर्म, कला, राजनीति और नारी-शील के इतिहास को अनेक स्तरों पर सफलता से प्रदर्शित करती है। "बाणभट्ट उस युग को जीकर एक आत्मगत या रोमांटिक इतिहास रचता है, कृष्णवर्धन उस युग मे जीकर एक घटनात्मक या क्लासिकल इतिहास भोगता है, तथा [illegible]

और एक बहुरंगी संस्कृति—दोनों की सामाजिक अवस्था, धर्मसाधना, कला दर्शन, वेश-भूषा, मानवीय राग, आचार, विचार आदि का संधान हुआ है। और इतना विशाल इतिहास, धारावाहिक काल, कला का स्वप्न-दर्शन एक व्यक्ति, हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट, की नीली धमनियो मे जोरो से बहा है।" ❀

भावात्मक आत्मकथा के लिए भी ऐतिहासिक सामग्री की आवश्यकता है क्योकि बाणभट्ट, अपने किसी भी रूप मे सही, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है, इसलिए इसके विषय मे कल्पना को भी इतिहास की परिसीमाओ मे ही काम करना पड़ता है। थोड़ा-सा विचार

❀ देखिये, आलोचना, नवांक ३, जनवरी, १९६४, पृ० ११३-१४

करने पर आत्मकथा के बाण के तीन परिपार्श्व प्रत्यक्ष हो सकते हैं—एक तो इतिहास का बाण, दूसरा लेखक की कल्पना का बाण और तीसरा लेखक के व्यक्तित्व में प्रविष्ट बाण। बाण के ये तीनों रूप अलग-अलग नहीं हैं। बाण के इस सम्मिलित स्वरूप की अवतारणा लेखक के मनोलोक में हुई है। संस्कृत-साहित्य के प्रति लेखक की रुचि होने और संस्कृत का विद्वान् होने से उसने कादम्बरी, हर्षचरित आदि का गहन अध्ययन किया है। इससे उसके मानस में बाण के व्यक्तित्व का एक समाहृत रूप उभरा है। उसके व्यक्तित्व में लेखक को अपने व्यक्तित्व की झाँकी भी मिली है। ऐसे बाण के विषय में राहुल जी के कटु शब्दों को सुनकर लेखक के मन में अवश्य ही एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई होगी और उनके व्यक्तित्व की प्रतिरक्षा के लिए ही लेखक को अपनी लेखनी सम्भालनी पड़ी। इस लेखनी से जो रूप उभर सकता था वह 'आत्मकथा' के बाण के रूप से भिन्न नहीं हो सकता था।

लेखक की दूसरी भावना 'अपने बाण' के सम्बन्ध में पाठकों को विस्मित और दंग कर देने की भी थी। जिस बाण के संबंध में सब विद्वानों को बराबर ज्ञान हो, जिसका जीवनचरित हर्षचरित की कुछ पंक्तियों तक ही सीमित हो उसके चरित की रक्षा के लिए तैयार होने के लिए उपयुक्त साधनों की आवश्यकता होने से लेखक ने कुछ साधन 'ऐतिहासिक छल' से भी जुटाने की योजना की। इस योजना को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बड़ी विदग्धता से काम लिया है। डा. द्विवेदी ने अपनी कृति की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए और विद्वान् पाठकों को चकित करने के लिए जिस छल को अपनाया है वह एक बड़ी भारी सूझ है और उसको जिस प्रकार निभाया है वह कल्पना की अमेय देन है, किन्तु वह छल सत्य के प्रकाश में रख दिया गया है, इसलिए लेखक 'छल-दोष' से मुक्त हो गया है। अपने जादू के डण्डे के रहस्य का उद्घाटन लेखक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कर दिया है, किन्तु कला के चुंधिया देने वाले प्रकाश से अनिभूत पाठक अर्थ-संदेह में पड़ जाता है तो कलाकार का क्या दोष है?

यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि कला का सम्पर्क कल्पना के वरदान से होता है, इसलिए किसी भी कलाकृति में कल्पना-सृष्टि की उपेक्षा करना न तो उचित है और न सम्भव ही है। बाणभट्ट स्वयं कलाकार था। पाठक को इस अनुमान का उपयोग करने में हिचकना नहीं चाहिये कि बाण ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में अपने जीवन की कुछ अनुभूतियों का उपयोग भी किया होगा। उसने अपने जीवन में घटित कुछ घटनाओं और संस्मरणों को रंग बदल कर गल्प और रोमान्स के अनुरूप बना कर उन रचनाओं में संनिविष्ट कर लिया होगा। द्विवेदी जी के बाणभट्ट की सृष्टि में 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' का गल्प भी तथ्य-कथा बन गया, इतिहास का रूप लेकर अवतीर्ण हुआ।

वे वर्णन जिनके सत्यासत्य के संबंध में सही निर्णय नहीं दिया जा सकता, जिनको बाण की कल्पना के भव्य आकाशी प्रासाद मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये,

वे केवल नामों के हेरफेर के साथ इस 'आत्मकथा' में 'सत्य' बन गये हैं। अच्छोद सरोवर, चंडीमंडप का पुजारी, स्थाण्वीश्वर के राजदरबार का वर्णन, महाश्वेता और कादम्बरी की छवि आदि वर्णना ने 'आत्मकथा' में जो प्रतिष्ठा प्राप्त करली है, उनका मूल्य साहित्यिक सत्य के रूप में तो आँका ही जा सकता है, ऐतिहासिक सत्य के रूप में भी अविस्मरणीय है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि 'जब किसी ऐतिहासिक पात्र की प्रचुर ज्ञात जीवनी के अभाव में उसकी आत्मकथा लिखी जाती है तब उसकी कल्पित कृतियाँ भी उपजीव्य होकर इतिहास एवं तथ्य का छद्म प्रस्तुत करती हैं।' जिस प्रकार बाण ने 'हर्षचरित' के स्थाण्वीश्वर की छटा और विन्ध्याटवी के प्राकृतिक सौन्दर्य का 'कादम्बरी' के माध्यम से उज्जयिनी और गन्धर्व-लोक के सौ दर्थ में रूपान्तरित कर दिया है, उसी तरह द्विवेदी जी ने 'आत्मकथा' के स्थाण्वीश्वर, उज्जयिनी, विन्ध्याटवी, भद्रेश्वर आदि को पुनः रूपान्तरित कर दिया है। 'कादम्बरी' की कादम्बरी और महाश्वेता की जोड़ी 'आत्मकथा' में भट्टिनी और निपुणिका की जोड़ी के समकक्ष देदीप्यमान हो उठी है। इस तरह 'आत्मकथा' में लेखक ने बाणभट्ट की 'सृजनात्मकता' की चिन्तन-भंगिमाएं प्रस्तुत की हैं।' ※

'आत्मकथा' ने 'हर्षचरित' और 'रत्नावली' में बाण के चरित्र को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसकी चेतना-शक्ति को उद्घाटित करने का श्रेय प्राप्त किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को बाण का चरित्र-चित्रण अभिप्रेत नहीं था, अभिप्रेत था उसका 'उदात्तीकृत नरोत्तम' स्वरूप और उसी की सृष्टि के लिए इतने बड़े संसार की आयोजना है। जब 'वोल्गा से गंगा' में राहुल सांकृत्यायन बाण को लड़कियों को भगाने वाला, लंपट आदि विशेषणों से लांछित कर सकते हैं तो क्या डा० द्विवेदी परिस्थिति और दृष्टिकोण के गर्भ में उसके चरित्र को औचित्य-मंडित नहीं कर सकते ? डा० द्विवेदी इन्कार नहीं करते कि बाण नट बनने वाला, पुतलियां का नाच दिखाने वाला, और देश-देशान्तर में घूमने वाला था, वे इन्कार नहीं करते कि उसकी मित्र-मंडली ४४ सदस्यों की थी। उनमें सुहृदय सहाय, स्त्रियाँ, धूर्त, परिव्राजक, प्रणयी, कवि और विद्वान्, संगीतज्ञ, नर्तक, साधु, सन्यासी, वैद्य और मन्त्रसाधक पारशव बन्धु-युगल आदि विविध धरातल के लोग थे। 'आत्मकथा' के लेखक ने इन सबके गुण बाण में संकलित कर दिये हैं। विपदा का उदात्तीकरण होने से बाण को नया जन्म मिल गया है और समग्र कथा में इस मत की स्थापना हो रही है—"लोग मुझे 'भुजंग' समझने लगे, पर मैं लंपट कभी नहीं था। मेरे दुखी सहानुभूतिमय हृदय ने ही तो मुझे आवारा बना दिया—मैं सदा अपने को संभालने में समर्थ रहा हूं। इस बात का मुझे अभिमान है।"

पात्रों और घटनाओं के इतिहास के अतिरिक्त 'आत्मकथा' में लेखक की दृष्टि वातावरण की ऐतिहासिकता पर भी रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्तकाल के आदि

※ आलोचना, नवांक ३, पृ० ११४

अनेक दृष्टियों से भारत के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है, किन्तु लेखक ने उसके पहले और पीछे की परिस्थितियों को भी उसमें जोड़कर इतिहास के एक विशाल युग की पीठिका पर कला और धर्म की उपलब्धियों और प्रवृत्तियों को संकलित करने का प्रयत्न किया है। कला और धर्म के इतिहास का जो रूप लेखक ने अपनी कृति में दिया है उसकी सृजन-भूमिका में कलात्मक उपलब्धियों और धार्मिक सम्प्रदायों और धर्मशास्त्रों की मीमांसा का बहुत बड़ा योग है। तत्कालीन भारत के कलात्मक एवं धार्मिक इतिहास के अनुसंधान की भूमि पर लेखक के सामने कुछ ऐतिहासिक महापुरुष और कुछ ग्रन्थ बड़ी प्रमुखता से आये हैं। जिस प्रकार उसकी कला-चेतना ने भरतमुनि को अविस्मृत रखा है, उसी प्रकार वात्स्यायन को भी। यदि नाटक, रंगमंच, नृत्य तथा ललित कलाएं प्राचीन इतिहास का गौरव बढ़ा सकती हैं तो काम-कलाओं और कलात्मक विनोदों से भी ऐतिहासिक गौरव सर्वधित ही होता है। साहित्यिक इतिहास की भूमिका पर लेखक ने शूद्रक, भवभूति, कालिदास, हर्ष और बाणभट्ट को बड़े सम्मान से उतारा है। 'आत्मकथा' के धार्मिक इतिहास की भूमिका म मिलिन्दप्रश्न, कौल-निर्णय, नागानन्द, अभिलषितार्थचिन्तामणि, महाभारत, भक्तिरसामृतसिंधु, चण्डीशतक आदि के सिद्धान्तों का अमोघ योग रहा है। इन्हीं सब के योग से परम्परा की रचना होती है। 'आत्मकथा' की सृजन प्रौढ़ता में लेखक का ऐतिहासिक बोध विशेष महत्त्वपूर्ण है।

'आत्मकथा' की पूरी संस्कृति स्वर्णकाल की संस्कृति है और 'महावराह' गुप्त युग के प्रमुख आराध्यदेव हैं। उनकी मूर्ति गुप्त युग की प्रिय प्रतिमा है। लेखक ने आत्मकथा में सारे कथानक को 'महावराह के विराट् प्रतीक' के चारों ओर, चन्द्र के चारों ओर चन्द्रिका की भांति, लपेट दिया है। 'भगवान् वराह ने अतीव मग्ना धरित्री का उद्धार किया था।' गुप्त युग में चन्द्रगुप्त आदि राजा वराह के और आर्यावर्त धरित्री के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिये गये। स्वर्गीय 'जयशंकर प्रसाद' ने भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटिका के वातावरण में उद्धार की भूमिका प्रस्तुत की है जो चन्द्रगुप्त से सदर्पित है। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी का उद्धार किया था। डा० द्विवेदी के मानस से गुप्तकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उद्धार-कथा विलुप्त न हो सकी। उत्तर से अत्यन्त दस्युओं की बर्बर सेना आर्यावर्त पर आक्रमण करने को तैयार थी, अतएव हर्ष के सामने भी आर्यावर्त के उद्धार की समस्या थी। लेखक ने उद्धार की आवश्यकता और परिस्थितियों का आकलन करके 'महावराह' को एक ऐतिहासिक-राजनैतिक समानान्तरता तथा भक्ति-सम्प्रदाय के समुपस्थापन का कालपुंज बना दिया और सम्पूर्ण कथा को महावराह की विराट् छाया से शीतलता प्रदान की। राजनीति की भूमिका पर सब पात्र आर्यावर्त का उद्धार करने के लिये तत्पर हैं और धर्म की भूमिका पर सब पात्र स्नेहपूर्ण पतनोन्मुखी भावनाओं का उद्धार करने को प्रस्तुत हैं। यह मिथक ऐतिहासिक समस्याओं, सामाजिक प्रश्नों और नारी-जीवन को भी महावराह के धर्म से मण्डित कर देता है।

'आत्मकथा' में उद्धार-कामना की तीन भूमिकाएं सामने आती हैं—एक पर वाण भट्टिनी और निपुणिका का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध है, दूसरी ओर महावराह के भक्त हर्षदेव धरित्री का उद्धार करने के लिए कृतसंकल्प हैं, और तीसरी पर महावराह भाव की शीतल छाया में सभी पात्र घटनाओं की कलुषता से उबर कर हृदय राग की प्रभा से अभिषिक्त होने हैं। इस कृति में महावराह मूर्तिमान सौभाग्य हैं। वाण, भट्टिनी, निपुणिका और कृष्णवर्धन—सभी महावराह-भाव से अनुप्राणित हैं। महावराह के दर्शन और स्तवन से घटनाओं का विरेचन होकर एक विलक्षण शान्तभाव की प्रतिष्ठा होती है। भट्टिनी हो चाहे निपुणिका, वह अपनी आसन्न स्थितियों में महावराह की प्रतिमाओं के दर्शन से अपना विरेचन करती है। सेवक वाण भी महावराह-भाव से ही शान्ति प्राप्त करता है। महावराह की स्तुति से भावों का उदात्तीकरण एवं संकटाकीर्ण परिस्थितियों का विनिवारण हुआ है। इस प्रकार महावराह भाव मिथिक इतिहास को प्रस्तुत करने, भक्ति-भाव को उद्बुद्ध करने और चारित्रिक परिमार्जन करने में एक ही साथ प्रभविष्णु सिद्ध होता है।

इस 'आत्मकथा' के वातावरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐतिहासिक कलाकृति के लिए वातावरण का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो इतिहास कुतूहल बढ़ाया है और दूसरी ओर वेष भूषा, आचार-विचार और चरित्र योग से खोये हुए समाज का रूप चित्र तैयार किया है, तीसरी ओर 'आत्मकथा' की शैली के मार्ग से विवरणात्मकता के द्वारा चित्र बिम्बों को झिलमिलाया है, और चौथी ओर एक महान् कलाकृति के रूप में इस रचना में अनेक कलाओं की प्रशंसा और व्याख्या भी की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियां और उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं को उभारने के लिए अनेक कल्पित पात्रों की सृष्टि की है। कल्पना के जटिल स्पन्दनों में भी लेखक की ऐतिहासिक रुचि ने तत्कालीन समाज के धार्मिक विभाजन का मान चित्र अर्पित कर दिया है। कुमार कृष्णवर्धन के व्यक्तित्व का उपयोग लेखक ने प्रमुखतः उस समय की कुछ राजनयिक चुनौतियों को निरूपित करने के लिए किया है।

ऐतिहासिक नामों और घटनाओं के माध्यम से लेखक इस कृति की ऐतिहासिकता का आभास देता जाता है, किन्तु ऐसा करने में उसकी रुचि रमती नहीं है, वह इस स्थिति में रस नहीं लेता। अवसर मिलते ही 'तथ्य लोक' से रोमान की मेघ-वीथियों में विहार करने लग जाता है, क्योंकि वह तथ्य लोक का मीमांसक न होकर मूलतः अन्तर्घटनाओं का शिल्पी है। आत्मकथा में वाण को 'हर्षचरित' के सभापंडित का रूप नहीं दिया गया। ऐतिहासिक मर्यादा के निर्वाह के लिए वह राजगुरु के रूप में अवश्य समाहृत कर दिया गया है।

कुमार कृष्णवर्धन राजनयिक गति विधियों में बड़े निपुण हैं। वे अपने सद्व्यवहार एवं मधुर भाषण से भट्टिनी के टूटे हुए मन को जोड़ देते हैं। भट्टिनी को सम्मान

देने में अपने हृदय की कितनी सम्पत्ति का उपयोग करते हैं, यह कहना तो कठिन है; किन्तु इससे वे देवपुत्र तुवरमिलिन्द से सहयोग पाने की योजना का जाल अवश्य फैला लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यन्त दस्युओं को देश की सीमा से बाहर खदेड़ने के लिए सीमान्त शासक तुवरमिलिन्द से मैत्री करना एक सफल राजनीतिक दृष्टिकोण था।

संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त है कि इस कृति में लेखक ने वातावरण का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है क्योंकि उसके माध्यम से ही तो वह समग्र 'ऐतिहासिक समाज' का कलात्मक पुनर्सर्जन करने में समर्थ एवं सफल हुआ है। हर्ष, भर्वुशर्मा, धावक, ग्रह-वर्मा और कृष्णवर्धन को छोड़ कर यथा वे प्रायः सभी पात्र काल्पनिक हैं। नाम की दृष्टि से हर्ष को छोड़कर शेष सभी पात्र नाम के लिए ही ऐतिहासिक हैं। कल्पना की इस सुन्दर रम्यस्थली में, कला के इस भव्य प्रासाद में ऐतिहासिक पात्रों को उनके अनुरूप आवास तो दिया गया है, परन्तु उनकी गतिविधियों का नियंत्रण लेखक की सौन्दर्य रुचि ने ही किया है। फलस्वरूप 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' इतिहास की भूमिका पाकर भी आत्मकथात्मक उपन्यास की अपेक्षा 'आत्मकथात्मक रोमांस' ही अधिक है क्योंकि इसमें प्रमुखतः रोमांटिक जीवन-दृष्टि का ही सन्निवेश है। यहां यह स्मरणीय है कि लेखक ने तर्क से भावना को सदैव आदर देने की चेष्टा की है।

६. वस्तु-विन्यास और यात्राएँ

'आत्मकथा' को ऐतिहासिक आधार प्रदान करने के लिए जिस प्रकार पात्रो, घटनाओ और वातावरण का महत्त्व है उसी प्रकार तिथियो और स्थानो का महत्त्व भी है। उत्सवो और प्राकृतिक दृश्यो के वर्णनो मे स्थानो का ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्त्व बडी सरलता से सामने ला दिया गया है, किन्तु यात्राओं के वर्णनो के माध्यम से भी इस मूल्य का आकलन किया गया है। दृश्य-सौन्दर्य को प्रकट करने मे यात्राओ ने 'आत्मकथा' के महत्त्व को बहुत बढा दिया है। लेखक ने यात्रा-साहित्य नही लिखा है किन्तु यात्रा-साहित्य की प्रचुर संपत्ति 'आत्मकथा' की यात्राओ मे संनिहित करदी है।

आत्मकथा मे यात्राओ की पाँच प्रमुख भूमिकाएँ हैं। इनके सबन्ध से कथानक भी पाँच भागो मे विभक्त हो जाता है। पहली भूमिका स्थाण्वीश्वर से प्रारम्भ होती है और इसी भूमिका पर भट्ट का निपुणिका और भट्टिनी से परिचय, भट्टिनी की मुक्ति और स्थाण्वीश्वर से प्रस्थान होता है।

दूसरी भूमिका पर भट्ट, भट्टिनी और निपुणिका नौका द्वारा गंगा के मार्ग से मगध की ओर प्रयाण करते हैं। चरणाद्रि दुर्ग के पास युद्ध, भट्टिनी-निपुणिका का पानी मे कूदना, और तीनो का लोरिकदेव नामक आभीर सामन्त के घर अतिथि-रूप में निवास करना—ये दूसरी भूमिका की घटनाएँ हैं।

तीसरी भूमिका पर बाणभट्ट हर्ष के दरबार मे जाता है। बाण के साथ सभा में जो कुछ व्यवहार होता है, वह इसी भूमिका पर होता है।

चौथी भूमिका पर बाण राजदूत के रूप में भद्रेश्वर आता है और भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर आमंत्रित करता है। भट्टिनी आमंत्रण स्वीकार करके एक स्वतन्त्र रानी की भाँति जाती है और यहाँ आर्यावर्त्त की रक्षिता शक्ति के रूप में भट्टिनी का आदर किया जाता है।

पाँचवी भूमिका पर तीनों पुनः स्थाण्वीश्वर आते हैं। इसी भूमिका पर निपुणिका की मृत्यु हो जाती है और पुरुषपुर की यात्रा का संकेत भी इसी भूमिका पर प्राप्त है।

यात्राओ की पहली भूमिका पहले से सातवें उच्छ्वास तक प्रसारित है। दूसरी भूमिका आठवें उच्छ्वास से १२ वें उच्छ्वास तक फैलती हुई दृष्टिगोचर होती है। तीसरी भूमिका बारहवें उच्छ्वास के अन्तिम भाग से लेकर चौदहवें उच्छ्वास के अन्त तक चलती है। चौथी भूमिका का प्रसार पन्द्रहवें उच्छ्वास से सत्रहवें उच्छ्वास तक है। इसके बाद बीसवें उच्छ्वास तक पाँचवी भूमिका चलती है।

इन पांच भूमिकाओं में बटी हुई यात्राओं को पात्र-संबन्ध से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रमुख पात्र बाण है। सबसे अधिक यात्राएं उसी ने की हैं। उसकी पहली यात्रा प्रीतिकूट से काशी तक होती है।

यात्रा करने वालों में बाण, भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता, महामाया और वेंकटेश भट्ट प्रमुख हैं। बाण प्रीतिकूट से काशी और काशी से उज्जयिनी की प्रथम यात्रा करता है। उसको इस बीच विन्ध्याटवी में रमण करने का अवसर भी मिलता है। वह उज्जयिनी से स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से चरणाद्रि दुर्ग, व्याघ्रसर तथा भद्रेश्वर की यात्रा करता है। भद्रेश्वर से फिर स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और फिर वापस स्थाण्वीश्वर जाता है। यहीं से भट्टिनी को छोड़ कर पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है।

भट्टिनी और निपुणिका ने स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर की यात्राएं तो बाण के साथ की हैं। इनके अतिरिक्त भट्टिनी की रोमकपत्तन (रोम) के उत्तर प्रत्यीकवर्ष में जन्म लेकर कई बार आना-जाना पड़ा। पहले तो वह नगरहार से पुरुषपुर, वहाँ से जालन्धर और फिर स्थाण्वीश्वर आई। अन्त में स्थाण्वीश्वर से पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है। निपुणिका उज्जयिनी, स्थाण्वीश्वर, सौरमहृद और भद्रेश्वर की यात्राओं से संबन्धित रही। भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर आने के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुचरिता, महामाया और वेंकटेश्वर भट्ट की यात्राओं का उल्लेख भी आत्मकथा में मिलता है। ये यात्राएं काशी, कान्यकुब्ज, धूम्रगिरि, वज्रतीर्थ आदि स्थानों का प्राचीन गौरव तो सामने लाती ही हैं, साथ ही कथा के विकास में भी योग देती हैं। वेंकटेश्वर भट्ट की यात्रा का सम्बन्ध श्रीपर्वत और उड्डियानपीठ से जोड़ कर लेखक ने इन स्थानों के धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित किया है।

आत्मकथा में इतने स्थानों और इतनी यात्राओं का वर्णन होते हुए भी लेखक की रुचि ने भद्रेश्वर और सम्बन्धित यात्राओं और दृश्यों के वर्णन के लिए जो अवसर लिया है वह द्रष्टव्य है। इन वर्णनों में कथा में लहरियाँ भी उठती हैं। इन यात्राओं के अवसर पर यात्रियों को अपनी मानसिक ग्रन्थियों और आशंकाओं को अनावृत करने का मौका मिलता है। कई संस्मरण और जीवनियाँ इन्हीं यात्राओं के इर्दगिर्द घूमती हैं, जिनको मूल कथा में योग देने के लिए सुअवसर मिलता है। इन यात्राओं में कथा फूलती-फलती तो है ही, साथ ही ये उपन्यास के गठन को परिनिष्ठित और कार्य-व्यापार को प्रेरित करती हैं। उपन्यास शिल्प का नियमन करती हुई यात्राएं वर्णनों के लिए उपकरण, उद्गारों के व्यक्तीकरण के लिए अवसर, कार्य-व्यापार को प्रसार और चरित्र को विकास भी प्रदान करती हैं।

७. लेखक की आत्मकथा का अंश

बाणभट्ट की आत्मकथा के दो पहलू देखे जा सकते हैं—एक पहलू में, जो बिल्कुल स्पष्ट है, बाण की कथा है और दूसरे में जो गुप्त है किन्तु गवेष्य है, लेखक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की कथा है। इतिहास की सीमाओं पर जहाँ जहाँ बाण को देखा जा सकता है वहाँ वहाँ आधुनिक समाज की सीमाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व का विनिवेश कर देता है। लेखक ने जिन पात्रों को कथा से संबद्ध किया है वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। भर्वु शर्मा, धावक, दीदी, अघोर भैरव और जटिलवट्ट की पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी के अपने संबंध झलक गये हैं।

भर्वु शर्मा के पत्र में लेखक की खोज की जा सकती है। भर्वु शर्मा ऐतिहासिक क्षेत्र में बाण के गुरु हैं, किन्तु उनमें द्विवेदी जी के गुरु पंडित रामयत्न ओझा के व्यक्तित्व की झाँकी देखी जा सकती है: भर्वु शर्मा के वंश, जाति, गोत्र आदि की भूमिका में द्विवेदी जी के वंश, जाति, गोत्र आदि को खोज सकते हैं। लेखक ने अपने एक बनारसी मित्र को, जो धकाधक पान खाते थे, धावक बना दिया है। दीदी में शान्तिनिकेतन में आई हुई एक आस्ट्रियन वृद्धा की छाया मिलती है। अघोरभैरव 'कंकालीतला' (शान्तिनिकेतन से छै मील दूरी स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति हैं। कंकालीतला के भैरव के संबन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। संभवत साधना-पद्धतियों को कथारूपों में रचने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिली हो, जो उन्होंने तान्त्रिकों के विषय में लिखी थी। आश्चर्य नहीं कि भट्टिनी और निपुणिका किसी सामयिक बिम्ब के रूप में ही प्रतिरूपित हुई हों। 'शान्तिनिकेतन' के किसी छात्र की छाया ही जटिलवट्ट में दृष्टिगोचर होती है। सुना जाता है कि द्विवेदी जी के समय में शान्तिनिकेतन में एक ऐसा छात्र वहाँ था भी।

पात्रों के अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में कुछ रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और आस्थाएँ प्रत्यक्ष होती हैं जिनका संदर्भ अनेक स्थानों पर आचार्य द्विवेदी जी से जोड़ा जा सकता है। अघोरभैरव के प्रति बाण की जिस आस्था की अभिव्यक्ति हुई है, वह लेखक की अपनी रुझान का प्रमाण है। 'नाथ सम्प्रदाय', 'कबीर', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि में लेखक की इस रुझान का अनुमान लगाया जा सकता है। रचना के उपसंहार में लेखक की इस उक्ति से इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है कि "इस कथा में अपने गुरु भर्वु शर्मा की अपेक्षा अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है।"

ऐसी बात नहीं है कि लेखक ने आत्मकथा में केवल समसामयिक दोष ही विकीर्ण किया है, प्रत्युत् अपनी अन्तर्व्यथा भी बाण और निपुणिका के मुख से कहलाने का प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक पात्र और घटनाएँ लेखक के समसामयिक दोष को प्रकाशित करती हैं, किन्तु यह भी ठीक है कि बाण और निपुणिका ने अनेक स्थानों पर मानों लेखक की अन्तर्व्यथा ही सुना दी है। बाण गल्प सुना-सुना कर ठहाका मारकर हँसता है, इस प्रवृत्ति को आचार्य द्विवेदी के इष्ट मित्र उनकी सहचरी के रूप में देख सकते हैं। गल्पों के साथ हँसना एक बात है, किन्तु रस ले-लेकर हँसना दूसरी बात है। आचार्य द्विवेदी का हँसना इसी प्रकार का है और यही बाण की प्रकृति पर आरोपित किया गया है।

कालिदास की साहित्यिक कृतियों के प्रति बाण की रुचि में द्विवेदीजी की निजी रुचि द्रष्टव्य है। जितना चाव कालिदास की रचनाओं के पढ़ने में बाण को है उतना ही डा० द्विवेदी को है। उनकी पठन-रुचि जितनी कालिदास की कृतियों में रमती है उतनी अन्यत्र नहीं रमती। चिन्तन की भूमिका पर कोई भी वस्तु लेखक को 'अतीत' में निमग्न कर देती है। यह प्रवृत्ति बाण की प्रकृति से भी अभिन्न है।

लेखक भाषण-कला में निष्णात हैं। उनके भाषण बड़े प्यारे होते हैं। भाषण के बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों की गंगा-जमुनी बौछारें अपने प्रभाव का रंग जमाये बिना नहीं रह सकतीं। उनके भाषण में भावों की हिलोरें उठती जाती हैं, जिनमें काव्य-रस छलकता प्रतीत होता है। उनका कहना है कि वह लेख या भाषण कैसा, जिसमें भावात्मकता नहीं। लेखक की मन्द हँसी भाषण में चार चाँद लगा देती है। इन प्रवृत्तियों को लेखक ने बाण के स्वभाव में भी झलकाया है।

जो लोग डा० द्विवेदी के विचारों से परिचित हैं वे जानते होंगे कि समन्वयवादी दृष्टि लेखक की वैचारिक निधि का प्रमुख अङ्ग है, इसीलिए रूढ़ परंपराएँ लेखक के व्यक्तित्व में सम्मानित नहीं हैं। वह किसी भी कल्याणकारी परिवर्तन को स्वीकार कर सकता है। बाण के व्यक्तित्व में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रमुख योग है। इसलिए इन उक्तियों में हम वक्ता के पात्रों के पीछे डा० द्विवेदी के दृष्टिकोण की झांकी पा सकते हैं—

(१) "साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता।" (बाण)

(२) "तू शायद प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।" (भट्टिनी निपुणिका से)

(३) "लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है। हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है।' (हर्षवर्धन)

इन उक्तियों में लेखक के अपने सिद्धान्तों का दिग्दर्शन तो किया ही जा सकता है साथ ही इनमें उनकी दीर्घ लोकानुभूति और आकांक्षा भी अभिव्यक्त हो गई है।

'सौभाग्य' और 'अदृष्ट' लेखक की आस्था के प्रमुख प्रतिष्ठान बिन्दु हैं। इनमे बाणभट्ट के पीछे उसकी अपनी वैष्णव आस्था का प्रतिबिम्ब झलक रहा है। लेखक की मस्ती की आधारशिला वस्तुत 'सौभाग्य' की आशा और 'अदृष्ट' मे विश्वास पर निहित है। यही मस्ती बाणभट्ट मे विन्यस्त हुई है।

नारी के सबन्ध मे आचार्य द्विवेदी का मत मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। वे उसके प्रति बडे सदाशय और उदार हैं। आज से नही, छोटेपन से ही वे स्त्री के प्रति आदर-भाव रखते हैं और उनके आचरणिक कौरूप्य मे भी वे एक दिव्य शक्ति की झाँकी पाते हैं। जिन परिस्थियो मे नारी को कुलभ्रष्टा समझा जाता है उनको सामने रख कर ही वे नारी के मूल्य को आंकते हैं। दोष परिस्थितियो के सिर पर है, नारी के ऊपर नही। इसके अतिरिक्त लोक दृष्टि कुलभ्रष्टा समझी जाने वाली नारियो के अन्तर्भाव पर न पड कर उनके वातावरण पर ही पडती है जिससे सद्वनिताएँ भी असम्मान की खाई मे गिरादी जाती हैं। सच तो यह है कि नारी के सबन्ध मे बाण का दृष्टिकोण लेखक का अपना दृष्टिकोण है। बाण कहता है—"बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणत जिन स्त्रियो को चचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं, मैं नही भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मदिर के समान पवित्र मानता हूँ—मैं सदा अपने को सँभाल सकने मे समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है।" इसी स्थापना मे बाण का जीवन लेखक के जीवन का दर्पण बना हुआ है। "फलस्वरूप एक ओर लेखक का चरित्र, दूसरी ओर महाभाव की सौभाग्य छाया और तीसरी ओर उस सामन्त-युग के नैतिक बधन मिल-जुल कर 'आत्म-कथा' मे 'लम्पट' बाण को भी 'देवोपम अभिभावक' मे रूपान्तरित कर देते हैं।" १

बाण नारियो के प्रति कोमल एव सरल भाव रखता है, किन्तु वे बडे पावन भाव हैं, कही कालुष्य का नाम नही है। बाण स्त्री को देवता समझता है, किन्तु देवता समझने की मनोवृत्ति गलत और अति की सीमा तक जा पहुँची है। इससे स्त्रियो की मानसी शोभा जडिमा से विकृत दृष्टिगोचर होती है। बाण पर 'पाषाण पिंड' और 'प्रस्तरप्रतिमा' शब्दो के प्रहार किये जाते हैं। निपुणिका और भट्टिनी की मानसिक प्रतिक्रिया का स्वरूप स्नायुदौर्बल्य (निपुणिका के पक्ष में) और विश्वकरुणावाद (भट्टिनी के पक्ष मे) के रूप मे होती है। बाण का यह आवरण उसे 'भुजगत्व' के कलक से बचा लेता है। फिर भी उसे 'भोलेपन' के उपहास का भागी तो बनना ही पडता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से बाण का स्वभाव एक पहेली है, किन्तु एक प्रोफेसर के जटिल शिष्टाचार मे उसे खोजते हुए हम लेखक के समीप पहुँच सकते हैं। "प्रेम की दृप्त भावना मे आलोकित होने वाला बाण लेखक के व्यक्तित्व की दृढ़ और अदृप्त प्रेम की दृष्टि तथा सनातन वैष्णव-मर्यादा

१. देखिये, आलोचना—नवाक, जनवरी, १९५४, पृ० १२५

वाला आवरण ग्रहण करके एक मिला-जुला व्यक्तित्व प्राप्त करता है। लेखक तामसिकता से यथासंभव परिशुद्ध है, इसलिए संपूर्ण आत्मकथा में कोई भी ऐसा शारीरिक विकृत घृणित दृश्य या तथाकथित अनैतिक संबंध नहीं आ सका है। सारी कृति का यह धरा-तल लेखक के आचरण की महती देन है। लेखक 'नियति' तथा 'सौभाग्य' पर प्रबल विश्वास करने वाला है। फलस्वरूप बाण का चरित्र तथा उसके साथ-साथ सभी घट-नाएँ भी 'नियति-तत्त्व' से संचालित हुई हैं। इस प्रकार आत्मकथा में लेखक का सम-सामयिक बोध और उसका अन्तर्वृत्तिमूलक इतिहास (आत्मकथा) क्रमशः मानवतावाद और नियतिवाद एवं वैष्णव मर्यादा का आयतीकरण करता है।"[२]

लेखक की संदर्भ-भावना के प्रकाश में आत्मकथा के स्थानों का परिचय दे देना भी इसलिए आवश्यक है कि इनसे लेखक की आत्मकथा पर भी प्रकाश पड़ता है। लेखक भद्रेश्वर में रम-सा गया है, इसलिए इस ग्रंथ में लेखक की आत्मकथा अधिक है, बाण की कम। इस प्रकाश में उपसंहार इस वाक्य की गुत्थी अपने आप खुल जाती है कि "स्था-ण्वीश्वर और चरणाद्रि दुर्ग (चुनार) का नाम मात्र का उल्लेख है, परन्तु भद्रेश्वर दुर्ग और उनके समीपवर्ती स्थानों का कुछ अधिक वर्णन है, जो काफी संकेतपूर्ण है।" आत्म-कथा के अनेक स्थलों में घूमकर भी लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने गांव ओझ-वलिया और उसके आस-पड़ौस को नहीं भूले हैं। शान्तिनिकेतन का निवास भी ग्राम-मोह से उनकी मुक्ति नहीं कर सका है। उनकी ललचायी दृष्टि इस क्षेत्र में घूम-फिर कर आये बिना नहीं रही है। परिचित वातावरण के वर्णन और ओझवलिया के आसपास की भौगोलिक स्थिति के चित्रण से यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है।

ओझवलिया बलिया जिले में है। इसका डाकघर भरतर है। यही भरतर या भलर 'आत्मकथा' का भद्रेश्वर है। ओझवलिया में आरतदुबे का छपरा लेखक के पिता-मह ने बसाया था। ओझवलिया दूरी के कारण आत्मकथा के स्थानों में सम्मिलित नहीं हो सका है, किन्तु भरतर या भद्रेश्वर के वर्णन का माधुर्य देखते ही बनता है। भर-तर गांव बहुत पुराना है। यहाँ का दुर्ग संभवतः गंगा में डूब चुका है। गांव के पास छोटी सरयू (महासरयू की एक शाखा) बहती है जो लेखक की कल्पना में महासरयू बन गई है। गांव की सुरह झील ही भीरम झील है जिसमें कादम्बरी के पम्पासरोवर तथा अच्छोद सरोवर के दृश्यों का सौन्दर्य भर दिया गया है। 'वज्रतीर्थ' गंगा के किनारे का 'बजहा' गांव है। धूम्रगिरि की स्थिति चुनार से चार मील दूर विन्ध्याचल पर्वत में है। कल्प प्रीतिकूट का संकेत करता है। इस प्रकार इस उपन्यास में बाण की प्रिय विन्ध्याटवी के बजाय लेखक के ग्रामांचल के दृश्य ही सामने आये हैं।

---

२. देखिये, आलोचना—नवांक, जनवरी, १९५४, पृ० १२१

८. वातावरण

आत्मकथा हर्षकालीन वातावरण लेकर निर्मित हुई है। हर्षचरित और कादम्बरी के अनेक सूत्रों से वातावरण का यह पट तैयार हुआ है, किन्तु कल्पना के उन्मुक्त सहयोग ने इतिहास को अपने ढंग से सजाया है। इसमें राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति और प्रकृति के पृथक्-पृथक् रंग दृष्टिगोचर होते हैं।

राजनीतिक वातावरण

राजनीतिक वातावरण भी विभिन्न रंग का दिखायी देता है। इनमें से विदेशी आक्रमण प्रमुख है। जिन म्लेच्छों से लोहा लेने के लिए समुद्रगुप्त ने अपने पूर्ण बल से काम लिया, जिनको दबाने के लिए चन्द्रगुप्त की रण-हुंकारें सागर की भाँति उमड़ी, मौखरियों की दुर्दान्त वाहिनी प्रलय मेघों की भाँति घुमड़ती रही, वे अभी तक जीवित थे। अत्यन्त दस्युओं के रूप में वे अब भी आक्रमण कर रहे थे।

हूण

बाणभट्ट की आत्मकथा में हूणों के लिए ही संभवतः 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वर्गीय डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'मध्य एशिया में रहने वाली एक आर्य जाति को हूण' कहा है। उनका अनुमान तो यह भी है कि "कुशन और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहिये। भूटान के लोग अब तक तिब्बत वालों को 'हुणिया' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि कुशन और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया। वहाँ से उन्होंने फिर, भिन्न भिन्न समय में, हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।"[२]

"हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशीय राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया, परन्तु उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने वीरता से लड़कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुद्धगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० सन् ४९९) से कुछ पीछे हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा आदि छीन लिए और वहाँ पर अपना राज्य

---

१. देखिए, रा० पू० इति०, ग्रन्थ १, पृ० १२६

२. देखिए, वही, पृ० १२८

स्थिर१ किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए—एक तो तोरमाण और दूसरा उसका पुत्र मिहिरकुल या मिहिरगुप्त। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है, जिस पर एक ओर उसका नाम और दूसरी ओर 'जयतु वृषध्वज' लिखा है जिससे उसका शिव-भक्त होना प्रकट होता है।"

यशोधर्म से हार खाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के लिये लड़ते रहे। यह बात पिछले राजाओं के साथ हुई, उनकी लड़ाइयों से स्पष्ट है। थानेसर और कन्नौज के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन और राज्यवर्द्धन हूणों से लड़े थे, किन्तु उस समय हूणों का कोई राज्य नहीं था। वे अब लूटमार करने के लिए कभी-कभी आक्रमण कर देते थे। जिन अत्यन्त दस्युओं का आत्मकथा में उल्लेख है वे यही हूण हैं। ये लोग न केवल धन ही लूट कर ले जाते थे, वरन् स्त्रियों को भी उठा ले जाते थे।

थानेसर का राजवंश

इस समय देश के अनेक टुकड़े हो रहे थे। यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य और जागीरें कायम थीं जो आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। इस समय सबसे बड़ा राज्य थानेसर का था, जिसमें कन्नौज भी सम्मिलित था। आत्मकथा में इसको 'कान्यकुब्ज' राज्य कहा है। इसकी राजधानी थानेसर या स्थाण्वीश्वर थी। थानेसर के राजवंश का इतिहास इस प्रकार है—"पुष्यभूति श्रीकंठ प्रदेश (थानेसर) का स्वामी था जो परम शिवभक्त था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की रानी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की रानी अप्सरादेवी से आदित्यवर्धन का जन्म हुआ। वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी रानी महासेना गुप्ता से प्रभाकरवर्धन ने जन्म लिया, जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्धन तक के नामों के साथ केवल 'महाराज' पद मिलता है, अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं, अपितु दूसरों के मातहत सामंत थे। प्रभाकरवर्धन की पदवियाँ 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं का नवाने वाला, तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर और लाट देशों को विजय करने वाला लिखा है। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्य-हृदय' का पाठ किया करता था।

उसकी रानी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन, तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई, जिसका विवाह कन्नौज के मौखरीवंशी के राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। मालवा के राजा ने ग्रहवर्मा को मारकर उसकी रानी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे कन्नौज के कैदखाने में रख दिया। उसी समय प्रभाकर-

१ देखिए, रा० पू० इति, प्रथ १, पृ० १२८-१२९

वर्धन का देहान्त होगया और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्धन थानेसर के राजसिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्धन

राज्यवर्धन अपने पिता के देहान्त के समय उत्तर में हूणों से लड़ने को गया हुआ था। वहाँ वह घायल होकर भी विजय प्राप्त कर ले आया। उसी दशा में वह थानेसर पहुँचा, किन्तु पितृस्नेह से सिंहासनारूढ होना पसंद न करके महन्त (बौद्ध साधु) होने के लिए कटिबद्ध हो गया और अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को राज सिंहासन पर बैठाना चाहा। इतने मे राज्यश्री के कैद होने की खबर पाकर राज्यवर्धन ने महन्त होने के विचार को स्थगित कर दस हजार सवारों के साथ मालवा के राजा पर चढाई कर दी और विजय कर धनधान्य के साथ बहुत सी सुन्दर स्त्रियो, सामन्तो आदि को भी कैद कर लाया। लौटते समय गौड (बंगाल) के राजा नरेन्द्रगुप्त (शशांक) ने अपने महल मे लेजाकर उसे (राज्यवर्धन को) विश्वासघात करके मार डाला। यह घटना सं० ६६३ वि० (सन् ६०६ ई०) मे घटी। हर्ष के दानपत्र मे राज्यवर्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर मे प्राण देना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्धन हुआ।

श्रीहर्ष

हर्षवर्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते थे। गद्दी पर बैठते ही उसने गौड के राजा से बदला लेने का संकल्प कर लिया और अपने सेनापति सिंहनाद का लेकर दिग्विजय को निकल पडा। अनुमान से करीब ३० वर्ष तक युद्ध करके उसने कश्मीर से आसाम और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया। उसने दक्षिण को भी अधीन करना चाहा, किन्तु (बम्बई अहाते के बीजापुर जिले के) बादामी के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (द्वितीय) से हार जाने पर उसका वह मनोरथ सफल न हुआ। उसकी राजधानी थानेसर और कन्नौज दोनो थी।

हर्ष के गुण

हर्ष स्वयं विद्वान् था। कहा जाता है कि उसने रत्नावली, प्रियदर्शिका और 'नागानन्द' नाटक लिखे। रत्नावली का नाम तो 'आत्मकथा' मे भी आया है। उसे धर्मगुरुओं के शास्त्रार्थ को सुनने का बडा शौक था। रणरसिक होने के साथ-साथ वह जीवहिंसा और मांसभक्षण का विरोधी था। प्रतिकूलाचारियों को दण्ड दिया जाता था। चित्रकला मे उसकी बड़ी रुचि थी। विद्वानो का सम्मानकर्ता होने से कई बड़े-बड़े विद्वान् उसकी सभा की शोभा बढ़ाते थे, जैसे बाणभट्ट, उसका पुत्र पुलिंद (पुलिन) भट्ट, मयूर,

१ देखिये, राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृ० १३९

दिवाकर (मातंग), सुबंधु और मानतुंगाचार्य भी इसी के समय में हुए थे, ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। हर्ष पहले शिव-भक्त था, फिर बौद्ध हो गया। हर्ष वैसवंशी राजपूत था। अवध में वैसवाड़े का इलाका वैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है।

देश की स्थिति

इस ऐतिहासिक विवेचन से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के वातावरण पर काफी प्रकाश पड जाता है। इससे न केवल राजनीतिक स्थिति ही सामने आ जाती है, वरन् धार्मिक स्थिति पर भी पर्याप्त आलोक पड जाता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि देश के टुकड़े हो रहे थे। इससे भारत की शक्ति खण्डित हो रही थी जो इसके पराभव का प्रमुख कारण थी। स्त्रियाँ अपहृत होती थीं। वैधव्य इनमें से अधिकांश की समस्या थी। वे प्राय. पराश्रित रहती थीं। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था। इस तथ्य को आत्मकथा में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

"अमृत के पुत्रो, बडा दुर्घटकाल उपस्थित है। राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने रहने का निश्चित परिणाम पराभव है। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है। यह अशुभ लक्षण है।"

गिरिसंकट के उस पार अत्यन्त घृणित म्लेच्छ जातियाँ बसती थीं। लूटमार ही उनका व्यवसाय था, देवायतनों को भ्रष्ट करना ही उनका धर्म था, ब्राह्मणों और श्रमणों का वध करना ही उनका आमोद था, कुलवधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास और हत्या तथा आग लगाना ही उनका पावन कर्तव्य था। इन्होंने पुरुषपुर से साकेत तक के सारे जनपद को रौंद डाला था।[1] आत्मघातकारी अत्यन्त दस्यु सीमान्त पर एकत्र होने लगे थे। आर्यावर्त के देवमन्दिरों, विहारों, आबालवृद्धों, साधुओं, स्त्रियों, ब्राह्मणों और श्रमणों पर विनाश का आतंक छा रहा था। गुप्तों का प्रताप अस्त हो गया था, दुर्मद यौधेय उत्पाटितदन्त व्याघ्र की भाँति हीनदर्प हो गये थे, और मौखरियों का विक्रमानल निर्वापित हो गया था। जनता केवल कान्यकुब्ज के राज्य की ओर वस्त होकर ताक रही थी। यह बात इतिहास सिद्ध है। यह बात भी सिद्ध है कि उस समय ब्राह्मणों और आभीरों के राज्य भी थे, किन्तु 'टिड्डियों से भी विपुल, भेड़ियों से भी क्रूर गृध्रों से भी निर्घृण, शृगालों से भी हीन और कृकलासों से भी अधिक बहुरूपी हूण दस्युओं से इस पवित्र भूमि को बचाने की सामर्थ्य कौन रखता था।"[2] इस समय तुवरमिलिन्द बहुत पराक्रमशाली सामन्त था, यह आत्मकथाकार की कल्पना है। इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता। तुवरमिलिन्द की प्रशंसा में लेखक ने बाणभट्ट के मुख से

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३५३

२. बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १६६

ये शब्द कहलवाये हैं—"देवपुत्र तुवरमिलिन्द × × ×, जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं, जिनकी खरतर प्रसिधारा-स्रोतस्विनी में शक पार्थिव जैसे पार्थिव फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये, जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड वाल्हीकों को इस प्रकार तोड डाला जैसे क्रीडा-परायण शिशु छत्रक दण्ड को तोड देते हैं और जिनकी स्फूर्जित दीप्त कीर्ति-वह्नि म प्रत्यन्त सामन्त स्वय पतगायमान हो रहे हैं।"१ वह विषम समर विजयी एव प्रतिस्पर्द्धि विकट व्यक्ति हैं।

सामन्त लोग और उनकी उच्छृखलता

राजा और सामन्त न केवल आपस म लडते झगडते थे अपितु उनके इस कलह व्यापार मे प्रजा भी सत्रस्त रहती थी। प्रजा के लोग शत्रु-राजा की सीमा मे प्रवेश नही कर सकते थे। परिणाम म धन माल की लूट ही नही होती थी वरन् प्राणो पर भी आ बनती थी।

चरणाद्रि दुर्ग कान्यकुब्ज राज्य की उस समय पूर्वी सीमा पर था। इसके आगे के देशो म बडी भारी अराजकता थी। उत्तर का काशी और दक्षिण का करूप जनपद न तो मगध के गुप्तो के हाथ मे था और न कान्यकुब्ज के राजा हर्ष के। राज्यवर्धन ने बडी कुशल नीति से काम किया था। उन्होने उत्तरी तट के कुछ ब्राह्मणो को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष मे कर लिया था, किन्तु बाद म वे भूमि-अग्रहारभोजी ब्राह्मण समस्त जनपद मे प्रधान हो उठे थे। वे ही उधर के सामन्त थे। उनमे वैदिक क्रिया लुप्त होती जा रही थी और वे खुलकर बौद्ध राजा का समर्थन करने लगे थे। दक्षिण के व्याघ्र सरोवर मे आभीर सामन्त ईश्वरसेन का जोर था। वह गुप्त सम्राटो का बडा ही विश्वासभाजन था। इधर गंगातटीय जनपद पर आभीर सामन्त रुद्रसेन का अधिकार था, वह भी मनमानी कर रहा था।

हर्ष की नैतिक दुर्बलता

जिस वश मे यशोवर्मा ने हूणो को बिल्कुल ठडा कर दिया था और जिसका पराक्रम भारत भर मे प्रसिद्ध हो गया था, उसी मौखरि-वश म 'छोटा महाराज' कलक के रूप म प्रकट हुआ। वह महालम्पट व्यक्ति था। उसे पोष कर हर्ष ने नीति-नैपुण्य का परिचय तो अवश्य दिया, किन्तु सारे देश मे मौखरियो क प्रति घृणा उत्पन्न करा दी। 'छोटे महाराज' के अन्त पुर की कोई मर्यादा नही थी। वहाँ चौर्य-लब्ध अत्याचारिता वधुएँ वास करती थीं। उसकी कोई मर्यादा न थी। ऐसे राजकुल को प्रश्रय देने वाले राजवश ने अपने ही पुरुष-पूजन क प्रयोग सिद्ध कर दिया। महाराजाधिराज हर्षवर्धन राजनीति की जटिलता के कारण अपराधी को अपराध का दण्ड नही दे पा

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ८५

रहे थे। लोरिक्देवके शब्दों में 'कान्यकुब्ज का शासन नपुंसक' था। उसमें देश को हूणों के आक्रमण से बचाने की शक्ति नहीं थी। हर्ष की वाहिनी में ही नहीं, उसके राज्य के समाज में भी भयंकर स्तर-भेद था, जिससे देश दुर्बल हो गया था। यह मिथ्या समाज-भेद प्रतापी गुप्त नरपतियों के समय में भी था, किन्तु उन्होंने उसके साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय[1] करना चाहा था। वह भी एक गलती ही थी। समाज में इस भेद का होना ही मानो उसमें एक विनाशकारी कीड़ा लगना था। लोरिक्देव ने कान्यकुब्ज की नीति को 'कुटिल नीति' कहा है।

राजसभा

राजसभा में भी असंयम और चापल्य का राज्य था। वह व्यसनालय बनी हुई थी। कभी सामन्त लोग पासा खेलते थे, कभी द्यूत-क्रीडा में निमग्न होकर राज की बातें भूल जाते थे। कोई वीणा बजाता था और कहीं सभा में ही चित्रफलक पर राजा का चित्र अङ्कित किया जाता था। कुछ लोग अन्त्याक्षरी, मानसी, प्रहेलिका, अक्षर-च्युतक आदि काव्य-विनोदों में डूब जाते थे। यदि एक ओर राजा के बनाये पदों की व्याख्या होती थी तो दूसरी ओर विदग्ध रसिक चामरधारिणी तथा अन्य वारवनिताओं के साथ वार्तारस में विभोर रहते थे। कुछ तो ऐसे भी ढीठ थे जो भरी सभा में किसी रमणी के कपोल-देश पर तिलक-रचना करने में भी नहीं हिचकिचाते थे। राजसभा में प्रथम बार सभ्य होकर पहुँचने वाले मनुष्य के चित्त पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता था। फिर भी सभ्य लोग इतने सावधान अवश्य थे कि वे अपने प्रत्येक कार्य से अपने को महाराज के अनुगत एवं भक्त सूचित करना चाहते थे। अपने असावधान रूप में भी सभा में चाटुकारिता पूरी मात्रा में वर्तमान थी। राजा के आने पर सभा में कुछ संयम आ जाता था, किन्तु खुशामदी स्तोत्र-वाक्यों का बोल-बाला था। वहाँ विट और विदूषकों की भोंडी रसिकता का भद्दा प्रदर्शन भी चलता था।

धार्मिक वातावरण

आत्मकथाकार ने धार्मिक वातावरण में दो धर्मों का प्राधान्य चित्रित किया है—भक्ति और बौद्धधर्म। भक्ति के आलंबन प्रधानतः भगवान् वराह दिखाये गये हैं, यद्यपि वासुदेव, नारायण, सूर्य, शिव आदि का भी उल्लेख किया गया है। बौद्धधर्म भिक्षुणियों से आपूर्ण था, किन्तु वह राजधर्म था। उसकी अनेक उपशाखाएँ भिक्षुणियों से गलित होकर सड़ांद देने लगी थीं, सौगत, वाम, कौल, शाक्त आदि अनेक धर्म बौद्धधर्म का आश्रय लेकर खड़े हुए थे, किन्तु उनकी दशा बड़ी बुरी थी। वाममार्गी साधकों में जनता की प्रायः श्रद्धा नहीं थी। भैरवियों के प्रति तो लोगों की बड़ी घृणा थी। उनमें प्रायः शील, विनय, लज्जा या माधुर्य का एकदम अभाव होता था। भैरव-भैरवी नाल

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३१५

वस्त्र धारण करते थे। पान-पात्र उनका सहचर था। बौद्ध भिक्षु पीला वस्त्र धारण करते थे। सौगत-मत और कौल-मत में काफी भेद था। सौगतों में नैरात्म्य-भावना का समादर था। कौल-मार्ग में शक्ति-साधना अपेक्षित थी। उसमें पुरुष और स्त्री का भेद भूल जाना होता है, अन्यथा अपूर्णता और आसक्ति स्पष्ट है। सौगतों की नैरात्म्य-भावना में शक्ति के बिना भी काम चल सकता था, किन्तु कौल-मत में शक्ति अनिवार्य है। कौलाचार का मूल सिद्धान्त इन शब्दों में देखा जा सकता है—"न तो प्रवृत्तियों को छिपाना उचित है, न उनसे डरना कर्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है।"[1] इस साधना में निर्भयता का प्रमुख स्थान है—"किसी से न डरना—गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।"[2] यह कौलाचारियों का मूल मंत्र है। मदिरा-पान इनकी साधना का अंग है। मंत्र और मुद्राएँ भी इस साधना में सम्मिलित हैं। सुधा पान से पूर्व सुधा-देवी का ध्यान-मंत्र, फिर मुद्राओं से पात्र को मुद्रांकित करना, और फिर चुटकी बजाकर दिग्बन्धन का अनुष्ठान करना—इन सब विधियों का इस मत में निर्वाह करना होता है। गुग्गुल-धूम भी कारण-सौरभ की भाँति इस साधना का सहचर है। इस मत के सिद्ध लोग भैरव और उनकी सिद्धियाँ (नारियाँ) भैरवी कहलाती थीं। साधकों को महामाया का प्रसाद वितरित किया जाता था, जिसमें मधु, अदरख, भुना हुआ कन्द और अपराजिता-पुष्प के कुछ दल होते थे। सिन्दूर का तिलक भी इस मत का एक चिन्ह है। महानवमी इनके यहाँ एक पवित्र दिवस माना जाता है। ये लोग अन्तर्वर्तिनी कुण्डलिनी शक्ति को विशेष महत्त्व देते हैं। उसका जागरण साधक का 'अभिप्रेत' है, उसके बिना सिद्धि नहीं मिल सकती।

इस समय कापालिक साधना भी प्रचलित थी, जिसमें कुछ इधर-उधर की बातें भी समाविष्ट हो गयी थीं। वज्रतीर्थ कापालिक साधना का एक प्रमुख स्थान था। नर-कपाल-मालाएँ साधक-साधिकाओं का अलंकरण करती थीं, कटिमें खट्वांग घण्ट विन्यस्त रहता था, उनकी जटाएँ बड़ी कर्कश होती थीं। वे वराटक-माला (कौड़ियों की माला) भी धारण करते थे। देवी के सामने ताजी चर्बी से हवन भी इनकी साधना में सम्मिलित था। कुण्ड के चारों ओर नर-कपालों में आह्वनीय सामग्री अलग-अलग रखी रहती थी। यहाँ नर-बलि भी दी जाती थी।

सौगतों की साधनाएँ विकृत होकर इधर-उधर बँट गयी थीं। उनकी बहुत-सी बातें तो वैष्णवों ने भी अपना ली थीं, अथवा कुछ समानान्तर साधनाएँ दोनों में चल रही थीं। इस बात की पुष्टि इन शब्दों से होती है—"आचार्य वेंकटेश भट्ट एक चन्दन काष्ठ के आसन पर पद्मासन बाँध कर बैठे थे। उनके मुख से एक प्रकार का आनन्द-

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १०२

२. वही, पृ० १०३

गद्गद-भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि माष और तन्दुल से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण-चक्र ठीक उसी प्रकार अङ्कित था, जिस प्रकार शाक्त तान्त्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव-तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय में तो इसका दूर का सबन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता, क्योंकि पद्म के साथ वज्र होना चाहिये। ऐसा होता तो इसे सौगत तन्त्र ही मान लेते; परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। माघ का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता, परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्याचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन सहन नहीं किया जाता; पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं।"१ इससे स्पष्ट है कि धर्मों की कुछ साधनात्मक विशेषताएँ थीं, जो प्रदेश-भेद से प्रतिष्ठित थीं, जैसा कि मगध और कान्यकुब्ज के उदाहरणों से प्रकट होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष के राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता थी और इसी कारण साधना-समन्वय भी सम्भव था। माघ में वैष्णव-धर्म किसी साधनात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता था।

उस समय धार्मिक विकास स्पर्धा के साथ होता था; उदाहरण के लिए, जो श्रीपर्वत उस समय वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि था वही वैष्णव साधना की रम्य स्थली भी था। वृद्ध और बाण का अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसका साक्ष्य देता है—

"मैंने बीच ही में टोका—"क्या कह रहे हैं, आर्य? श्रीपर्वत तो वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि है। वहाँ वैष्णव तान्त्रिक साधना भी है, यह बात तो नई सुन रहा हूँ।" वृद्ध ने मन्द-स्मितपूर्वक उत्तर दिया—"कान्यकुब्ज में आये हो, तो बहुत सी नई बातें सुनोगे, भद्र। ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में सौगत तन्त्र की उपासना करते थे। वहाँ से, न जाने क्या बात हुई, ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं।"

कान्यकुब्ज के धार्मिक वातावरण में स्त्रियों की भक्ति प्रमुख है। "शुरू-शुरू में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा ली थी। फिर तो यह हालत हो गई कि नगर का अन्तःपुर संध्या के समय निःशेष भाव से उलटकर भक्ति-आयोजन में शामिल हो जाता था। आगतों में अधिकांश स्त्रियाँ होती थीं। लास्य और करताल के साथ समवेत वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता था। इसी वातावरण में नारायण की स्तुति का गान होता था और नारायण की स्तुति सहस्रों नर-नारियों के कण्ठ से वर्षा

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २२६–२३०

की सरिता की भाँति उमडती थी। सगीत और वाद्य का मधुर मिश्रण भक्ति के वातावरण को मोहक बना देता था। गुरु की आज्ञा से सब लोग चुप हो जाते थे। फिर कीर्तन के प्रारम्भ की सूचना देने के लिए कोई स्त्री शख बजाती थी। यह भजन साधन सब प्रकार से विचित्र था। कीर्तन मे 'नाम'–जाप प्रमुख था। सगीत की मधुर शीतल मदाकिनी म समस्त जनमडली डूब जाती थी।

भक्त लोग प्राय तृणास्तरण पर बैठते थे। गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्ति सामने होती थी और पार्श्व मे धूप-वर्तिका जलती थी। वासुदेव की त्रिभगी मूर्ति की भी उपासना की जाती थी। उसके गले मे माला होती थी।

भक्त लोग शरीर को वैकु ठ मानते थे क्योकि 'इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द मे ही यह भुवन-मडल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आन द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। आनन्द-लीला ही इस सृष्टि का प्रयोजन है।'१ 'नारायण मनुष्य के बाहर नही हैं। तुम प्रसन्न हो तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के ही तो रूप हो।'२

सूर्य और शिव की उपासना भी होती थी, किन्तु वैष्णव भक्ति का वातावरण ही आत्मकथा मे प्रमुखता से आया है। वासुदेव के साथ वराह का भी बहुत अधिक महत्त्व था। धर्म के इतिहास मे भी वराह की भक्ति को हर्षकाल मे प्रमुख बतलाया गया है। सभवत हर्षकालीन जनता पर गुप्तकालीन सस्कार चले आ रहे थे।

ब्राह्मण जाति के प्रति इतर धर्म वालो की सद्भावनाएँ नही थी। उनके प्रति बौद्धो की प्रबल घृणा थी। वे लोग ब्राह्मण जाति को डरपोक, झूठी और पाखडी कहते थे। वे उसे टेढी जाति बतलाते थे। फिर भी ब्राह्मण का समाज मे ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को भू-देव समझा जाता था। उसका आशीर्वाद कल्याणमय समझा जाता था। उसके बताये हुए अनुष्ठान मागल्यव्रत या जप होम मे बडी शक्ति मानी जाती थी।३ हर्षकाल मे कान्यकुब्ज ब्राह्मण पडितो की गढी था। सामनेर के शब्दो मे 'ऐसे तर्क-कुक्कुरो को ललकार कर ही वहाँ का राजा सौगत बना रह सकता था।'३ बौद्धो को भय था कि 'इस नीति का फल विपरीत न हो। यदि किसी दिन सद्धर्म को नीचा देखना पडा, तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।'४

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २४०

२ वही, पृ० २४१

३ वही, पृ० ८६

४ वही, पृ० ७७

कान्यकुब्ज में बाहरी आचार को बहुत महत्व दिया जाता था और भीतर के महत्व को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, सभी बाह्याचारों को ही बहुमान देते थे। स्वयं महाराज हर्ष भी इस बात से असंपृक्त नहीं रह पा सकते थे। उनका सबसे अधिक सम्मान सौगत धार्मिक अनुभूति के प्रति था, पर आचार्य सुगतभद्र की तुलना में वह कितना छिछला था, इसे केवल बुद्धिमान् समझ सकते थे।

बौद्ध-विहार की निर्माण-शैली बड़ी रहस्यमय होती जा रही थी। वे लोग भवनों को भी रहस्यमय बनाते जा रहे थे। विहारों में अब नीचे दुतल्ले पर जाने के लिए सीढ़ी होती थी और इस तल्ले पर आने का रास्ता भीतर की ओर होता था। बिना दुतल्ले पर गये कोई नीचे के तल्ले में नहीं जा सकता था। भिक्षु लोग भिक्षाहार करते थे।

उस समय ज्योतिर्विद्या का भी काफी सम्मान होता था। बौद्ध और ब्राह्मण, दोनों ही ज्योतिषी हो सकते थे। उनकी बात पर काफी विश्वास किया जाता था।

सामाजिक वातावरण

उस समय नारियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। धर्म के नाम पर वे विकृत बौद्धों की काम-तृषा का शमन-साधन बनी हुई थीं। लुटेरे धन के साथ स्त्रियों को भी लूट ले जाते थे। राजान्तःपुरों में उनको बन्दी बना कर रखा जाता था और वहां उन्हें अपनी पवित्रता की बलि देनी पड़ती थी। जीविकोपार्जन के लिये पानादि का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों के चरित्र को अच्छा नहीं समझा जाता था। उस समय स्त्रियां पान बेचती थीं या नहीं, यह कहना तो ऐतिहासिक प्रमाण के बिना कठिन है, किन्तु लेखक पर वर्तमान समाज की भावना का संस्कार स्पष्ट है। अपने पौरुष-दर्प में पुरुष नारी का अपमान करता चला आ रहा था। उस समय स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी व्यवसाय होता था।

आत्मकथा के सामाजिक वातावरण में स्त्रियों के अनेक स्तर थे। एक तो उच्च-स्तरीय नारियां थीं, जैसे राज्यश्री। वे पढ़ी-लिखी होती थीं और सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। दूसरी कोटि की स्त्रियां कुल-वधुएं होती थीं जो घरों की चहारदीवारी में रहती थीं। तीसरी कोटि की स्त्रियां साधिकाएं होती थीं, जैसे महामाया। चौथी कोटि की स्त्रियों में निपुणिका-जैसी स्त्रियां सम्मिलित थीं। पांचवीं कोटि की स्त्रियों में गणिका, वेश्या आदि होती थीं। इनके अतिरिक्त राजान्तःपुरों में अवधाएं भी होती थीं, जैसे भट्टिनी। गणिकाओं का गृह बहुत सजा हुआ होता था किन्तु वह बन्धुकों, विटों लम्पटों और स्त्रैणों की रंगभूमि होता था।

जिस प्रकार स्त्रियों के अनेक स्तर होते थे, उसी प्रकार पूर्ण मानव समाज में मानव के अनेक स्तर होते थे। धनी-निर्धनी, ब्राह्मण-अब्राह्मण, बौद्ध-अबौद्ध, विद्वद्-मूर्ख, शिष्ट-अशिष्ट आदि भेदों से समाज-सागर में अनेक लहरें दिखलायी पड़ती थीं।

इनम से जितने ही भेद कृत्रिम और भदक थे जो समाज को निर्बल बना रहे थे। वे आज भी चले आ रहे हैं, यद्यपि इस वैज्ञानिक युग मे इनको मिटाने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। वरन् आज तो एक रग भेद और बढ गया है।

समाज के उच्छेदन एव उद्‌भेदन म धर्म के अनेक भेदो और विकृतियो को नहीं भुलाया जा सकता। वर्ग और वर्ण क भेदो मे धर्म प्रमुख कारण था। एक धर्म का सदाचरण दूसरे का दुराचरण था। कौलाचार और वाममार्ग मे मधु-पान धर्म था और वैष्णव धर्म मे वह दुराचरण होने क नाते वर्जित था। बौद्धो और वैष्णवो मे बडी भारी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। एक की पीठ पर राज्यशक्ति थी और दूसरे की हथेली मे प्रजा का विद्रोह। विरतिवज्र का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानो ससार की सबसे बडी घटना थी। धर्म-मद का डिडिम पीटना ही मानो उस समय के धार्मिको का कर्तव्य था। मनुष्य चाहे चूल्हे भाड मे जाये, जय पराजय की प्रतिद्वन्द्विता मे मनुष्य का चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाये, परन्तु धर्म प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों के सघात की भूमिका से टलने वाला नही था।

समाज के भेदीकरण का दूसरा कारण राजनीति थी। उस समय कोई ऐसा शक्तिशाली राज्य नही था जो समग्र देश को एक सूत्र मे रखकर समाज के फूलने फलने के लिए प्रयत्न करता। कान्यकुब्ज का राजा ही उस समय सबसे बडा राजा था किंतु उसके चारो ओर अनक छोटे-छोटे राजा और सामत लोग या तो स्वतन्त्र थे, या स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव समाज की समग्रता राजनीति की सकीर्ण सीमाओ मे जकड गयी थी। राजनीतिक दाव पेचो के कारण समाज भय और आतक से दब रहा था। समाज का आवागमन और शादी सम्बन्ध तक सीमित एव नियन्त्रित हो रहे थे।

निरीह बहू बेटियो के अपहरण होते थे और उनके विक्रय का व्यवसाय चलता था। इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तो और राजाओं के अन्त पुर थे। और तो और, महाराजाधिराज की चामरधारिणियां और करकवाहिनियां तक खरीदी हुई और भगायी हुई कन्याएँ होती थी। १ प्रजा मे इनके कारण भारी क्षोभ था। महामाया के व्याख्यान का अधोलिखित अ श इसको प्रकट कर सकता है—' धिक्कार है, आर्य सभासदो, जो उत्तरापथ के विद्वान् और शीलवान् नागरिक इन राजाओं का मुँह जोह रहे हैं। मैं पूछती हूँ, यदि महाराजाधिराज ने आपकी प्रार्थना का प्रत्याख्यान कर दिया, तो आप क्या करेंगे ?" २ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे थे। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी। विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि उन परिस्थितियो मे कु ठित होती जा रही थी। धर्माचरण

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २५५

२ वही, पृ० २५७

व्याहत हो रहा था, इसलिए कि राजा को स्वार्थ ने, प्रजा को भय ने और विद्वानों को राजप्रिय बनने की लिप्सा ने अन्धा कर दिया था। यह एक बहुत बड़ा अशुभ लक्षण था।[१]

राजा लोग प्रजापालन और प्रजानुरंजन छोड़कर राजनीति के दलदल और विलास में फँसे जा रहे थे और यह स्पष्ट था कि भारतीय गौरव पतन का मुँह जोह रहा था। आचार, कर्तव्य और शील को छोड़कर, दम्भ और पाखण्ड में और धर्म तर्कविडम्बना में प्रविष्ट हो गया था। वाह्याचार समाज का धार्मिक परिचय बन गया था और मनुष्यता ब्राह्मण और श्रमण दोनों में विरल हो गयी थी।[२]

कुछ उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते थे। त्यौहारों के सिवा वसन्तोत्सव को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। राजपुत्र-जन्मोत्सव पर एक राजकीय सवारी निकलती थी जिसमें छोटे-बड़े सब लोग भाग लेते थे। उत्सवों के अवसर पर शासन और धर्म के विभागों की छुट्टी रहती थी।

सांस्कृतिक वातावरण

इस वातावरण के निर्माण में कला, शिक्षा, शिष्टाचार, उत्सव मनाने की विधि आदि का प्रमुख हाथ था। कला सौन्दर्य की अभिव्यंजना मात्र नहीं थी, अपितु मनोविनोद का साधन और हृदय के अमूर्त भावों का अवलंबन भी थी। नाट्य, काव्य, संगीत, चित्र, नृत्य और मूर्ति आदि सभी कलाओं की प्रतिष्ठा थी। अच्छे-अच्छे नाटक लिखे जाते थे और उनका अभिनय भी किया जाता था। अभिनय के लिए नाट्यशालाएँ होती थीं और नाट्य-मण्डलियों द्वारा अभिनय की व्यवस्था की जाती थी। अनेक खंभों पर टिके हुए विराट् पटवास से प्रेक्षाशाला बनती थी। उसका धरातल क्रमशः नतोदर होता था। सभापति का आसन प्रफुल्ल शतदलों से सजाया जाता था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के तथा दाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट होते थे। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरों) के लिए स्थान होता था। दाहिनी ओर के एक पार्श्व में पर्दे के पीछे संभ्रान्त महिलाओं के लिए स्थान होता था। सभापति के सामने और वाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए स्थान होता था। रंग-भूमि ठीक बीच में होती थी। महाराजा हर्ष कला-प्रेमी ही नहीं वरन् स्वयं कलाकार भी थे। उनकी 'रत्नावली' ने काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उस समय काव्य-भाषा प्रायः *संस्कृत और प्राकृत ही थी, किन्तु अपभ्रंश का भी प्रचलन था। राज-दरबार में संगीत,* नृत्य और काव्य कला का बहुत सम्मान था। चाटुकार-दरबारी राजा के स्नेह-भाजन बनने के लिए राजा के विविध चित्र बनाते थे। जनता के लोग भी इन कलाओं का समादर करते थे। चित्रांकन प्रायः भित्ति-पटों या दारु-पटों पर किया जाता था। भित्ति-पटों को या तो

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २५८

२. वही, पृ० ८३

चून से पाटकर भार महिषचर्म को घोट कर उससे उसे सींचन की प्रथा थी या वज्र-लेप से वह तैयार किया जाता था क्योंकि वह हवा मे जल्दी सूख जाता था। तूली-कूर्चक बछडो के कानो के रोमो से बनते थे और रग, मोम तथा भात मे काजल रगडकर बनाया जाता था। कान्यकुब्ज के लोग बडे रूढिप्रिय और चित्र प्रवीण थे। वे मयूर और पद्म नृत्यो जैसी कला को अब भी जिलाये हुए थे। मगध मे मयूर-नृत्य देखने के लिए जनता मे इतनी आतुरता नही होती थी जितनी कान्यकुब्ज म। कान्यकुब्ज के लोग लास्य की अपेक्षा ताडव मे अधिक रुचि रखते थे और मनोभावो की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

मूर्तियाँ प्राय सगमर्मर या संगमूसा की बनायी जाती थी। उस समय बौद्ध-मूर्तियो मे शिल्प के प्रमुखत दो भेद होते थे —एक तो शक शिल्प और दूसरा कुषाण-शिल्प। एक तीसरा भारतीय शिल्प भी था। शक शिल्प मे भारतीय और यावनी शिल्प का मिलन था, जिससे सुन्दर मूर्तियाँ तैयार होती थी। वे न तो मूर्ति के अर्थ-पुरुष की गहराई मे जाती थी, न प्रमेय-पाटव मे। उनमे एक तरफ यावनी प्रतिमाओं की भाँति अ ग-प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया जाता था और दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओ मे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ को प्रधानता दे दी जाती थी।

कुषाण शिल्प मे भारतीय शिल्प का अनुकरण होता था। उसके अनुसार बुद्ध के चरणतल उसी प्रकार बनते थे, जैसे वे वास्तव मे होते हैं। भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण-शिल्पियो ने ऊर्ध्वमुख चरणतल वाले पद्मासन ही बनाये थे। प्रमाण पाटव वाली यावनी मूर्तियो मे ऐसा पद्मासन ऊर्णातन्तु से सिले हुए चीनाशुक के समान बेढाप लगता था।[1]

कुशाण शिल्प मे बुद्ध का मस्तक मु डित बनाया गया था, जब कि शक शिल्प मे सिर पर दक्षिणावर्त कु चित केश कुछ जँचते नही दीख पडते थे। कुषाण शिल्प की मूर्ति, बैठे हुए बुद्ध भगवान् की प्रतिमा होती थी। उनके अर्द्ध-स्मित नयन के ऊपर भ्रूलताए धारा यन्त्र की ऊर्ध्व-विक्षिप्त पयोरेखाओ की वक्रिमता लिए हुए नही होती थी, बल्कि इस प्रकार छाई हुई होती थी कि वे नासावश के छत्र का काम देती थी। हाथ की अ गुलियाँ स्वाभाविक होती थी।

गुप्तो की मूर्ति-कला के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही था। समाधि और निद्रा मे एक भेद होता है। अधिकाश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नही होने देती थी। फिर भी कुछ मूर्तियो मे जागरूकता प्रकट होती थी। वराह, वासुदेव एव शिवादि की मूर्तियो का भी बहुत प्रचलन था।

सगीत और नृत्य कला में सामान्य जनता दक्ष होती थी। उत्सवो, त्यौहारो

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १३०

आदि के अवसर पर इसका प्रदर्शन किया जाता था। नाट्यशालाओं में इसका प्रदर्शन किसी भी समय किया जा सकता था। नृत्य और संगीत में प्रमुख भाग स्त्रियों का होता था। स्त्रियाँ तो नाटकों में भी अभिनय करती थीं, किन्तु अभिनेत्रियों का विशेष सम्मान नहीं होता था।

उस समय काव्य-कला का भी एक प्रमुख स्थान था। उसमें 'कला कला के लिए' का स्वर प्रखर नहीं था। वह 'जीवन के लिए' मानी जाती थी। 'नरलोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय की अनुभूति कराने का सहज किन्तु अमोघ साधन कविता ही समझी जाती थी। मनुष्य की दुर्मद वासनाओं, अनियंत्रित कामनाओं और अविचारित धारणाओं की भीषणता कम करने के लिए भी कविता सत्य-प्रचार का प्रबल साधन मानी जाती थी।' १ सामाजिकों की धारणा थी कि काव्य से मनुष्य की दयाहीन, विवेकहीन, और धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती थीं।

बाणभट्ट की आत्मकथा के वातावरण में शिक्षा का भी एक प्रमुख स्थान है। तत्कालीन राजदरबारों में ही नहीं, समाज में भी विद्वानों का आदर होता था। धर्म-गुरुओं के सामने राजा भी विनयपूर्वक उपस्थित होता था। बैठने के लिए तृणास्तरण होते थे। आचार्यों की अध्यापन-शैली प्रेमपूर्ण एवं स्पष्टतामयी होती थी। प्रश्नोत्तर की शैली से अध्यापन होता था, जिससे शंका-समाधान सरलता से हो जाता था। आश्रमों और विहारों में विनय और संयम की शिक्षा दी जाती थी। कुतर्क, को सद्धर्म और सद्विचारों की दावाग्नि समझा जाता था, किन्तु शिक्षाश्रमों के सिवा अन्यत्र कुतर्क का बोलबाला था।

शिष्टाचार शिक्षा का एक प्रमुख अङ्ग समझा जाता था किन्तु राजदरबारों और धर्म-सभाओं में भी शिष्टाचार को प्रामुख्य दिया जाता था। जिस प्रकार शिष्य लोग श्रद्धा-विनत होते थे वैसे ही धर्म-सभाओं में श्रोता लोग शिष्टता एवं मर्यादाओं का पूर्ण पालन करते थे। राजदरबार में भी शिष्ट मर्यादाओं का अनुपालन होता था। इस प्रकार शिष्ट व्यवहार नीति का एक अङ्ग बन गया था। विद्वान् को, राजसभा में जाने पर, राजा की ओर से आसन दिया जाता था और ताम्बूलादि से उनका सत्कार किया जाता था। अमात्यादि जब आश्रमों या विहारों में जाते थे तो वहाँ उनको तृणास्तरण देकर सत्कार किया जाता था और वे लोग आचार्य का यथोचित सम्मान करते थे।

आत्मकथा के वातावरण में युवकों की उच्छृंखलता भी दिखलाई गई है। सुचरिता को खोजते हुए बाणभट्ट के शब्दों में इस वातावरण का संकेत मिल जाता है— "सुचरिता के पास जाने में बाधा क्या है? किसी के अप्रसन्न होने की चिन्ता नहीं है, परन्तु सुचरिता कहाँ रहती है? उसे यहाँ कोई पहिचानता है? किसी से उसके बारे में

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३४५

पूछना क्या उचित है ? इतना तो निश्चित है कि वह यहीं कहीं रहती है। किसी वृद्ध भद्र पुरुष से पूछना ही उचित है। कान्यकुब्ज के युवकों को मैं जानता हूँ। वे प्रश्न को उपहास का पात्र समझते हैं, पूछने वाले को मूर्ख बनाने में रस पाते हैं।"

इस वातावरण के एक कोने में भक्ति का रंग भी जमा हुआ दीख पड़ता है। यह तीन मास की धार्मिक भ्रान्ति का परिणाम है। बाण को उत्तर देते हुए वृद्ध के शब्दों में इस के चित्र की एक झाँकी इस प्रकार पा सकते हैं—"तीन महीनों में स्थाण्वीश्वर में बहुत परिवर्तन हुआ है। सामने जो विशाल आयोजन देख रहे हो, तीन महीने के भीतर ही वह इतना व्यापक हो गया है। आज नगर में ऐसी स्त्री नहीं है, जो इस विचित्र धर्माचार की भक्ति-धारा में न बह गई हो। पुरुषों का एक दल भी इस आयोजन में शामिल है। कान्यकुब्ज विचित्र देश है, आयुष्मन्, काशी में लोग धर्म के नाम पर इस तरह उतरा कर नहीं बहते।"२ इन शब्दों से कान्यकुब्ज के लोगों के 'अन्तर' का भी कुछ पता चल जाता है, जिससे उनकी प्रवृत्ति हमारे सामने अपना सामान्य रूप लेकर खड़ी हो जाती है।

आत्मकथा के वातावरण में प्रकृति का भी अपना योग है। कथाप्रवाह में आत्मकथा के प्राकृतिक वातावरण ने भले ही असहयोग दिखलाया हो किन्तु परिस्थितियों के चित्रण में उससे बड़ा सहयोग मिला है। इसमें विशेषता यही है कि संस्कृत का अनुकरण है।

आत्मकथा की कुछ समस्याएँ—

इस रचना में लेखक ने कुछ समस्याओं को प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनके हल की ओर भी संकेत किया है। ये समस्याएँ लेखक के अपने युग की समस्याएँ हैं। इनका सम्बन्ध समाज के किसी एक पहलू से नहीं है, वरन ये अनेक पक्षों का स्पर्श करती है। इनमें से प्रमुख समस्या नारी-समस्या है। आज नारी के माता-पिता ही नहीं, वह स्वयं भी अपने को एक अभिशाप मानती है : "क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?"३ "निपुणिका सामान्य अपमानित नारी है।"४ "नारी का जन्म पाकर केवल लाञ्छना पाना ही सार नहीं है।"५ "नारी का जन्म विघ्न के लिए ही हुआ है।"६ "नारी आनन्द-भोग के लिए है। वह पुरुष की वासना की तृप्ति है।" इन अनेक वाक्यों में नारी की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं।

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २२७
२. वही, पृ० २२७-२८
३. वही, पृ० ३०६
४ वही, पृ० ३०६
५. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३०६
६. वही, पृ० १९२

आत्मवश्या का लेखक अपने कौशल से इन समस्याओं के हल को सामने लाने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रथम मान्यता यह है कि नारी को अबला मानना ही भूल है। वह शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत है। पुरुष की शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के अनक परिणाम हैं यथा, राज्य-गठन, सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जनवास। इनको नियन्त्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस शक्ति की उपेक्षा से साम्राज्य ध्वस्त हो गये, मठ पतित हो गये और ज्ञान-वैराग्य विलुप्त हो गये।[1] केवल पौरुष-दर्प की प्रचुरता ने संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु को अपमानित कर रखा है। पुरुष द्वारा नारी के अपमान का क्या यह घिनौना दृश्य दखता ही चला जायेगा।

नारी को जिस रूप में विघ्नरूपा समझा जाता है वह उस रूप में विघ्नरूपा नहीं है। हाँ, दूसरे रूप में वह विघ्नरूपा अवश्य है। "इतिहास कहता है कि पुरुषों के समस्त वैराग्यों के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रम नारी-की एक वक्रिम दृष्टि में ही तो बह चुके हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है। नारी विहीन होकर पुरुष तपस्या करता है, किन्तु यह उसकी बड़ी भूल है। सच तो यह है कि धर्म, शासन, सामाजिक कार्य—सभी में नारी का सहयोग आवश्यक है। अब तक यह समझा जाता था कि इन कामों में नारी की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु लेखक प्राचीन को सामने लाकर वर्तमान को सजग कर रहा है। उसका मत है कि नारी का सहयोग न पाकर यह बार बार संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।"

नारी-तत्त्व उत्सर्ग में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।

आज के अनेक मायावर्तों में दूसरों के लिए अपने आप को गला देने की भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, इसीलिए वे कटाक्ष पर ढह जाते हैं, एक स्मित पर बिक जाते हैं। वे सब अस्थिर हैं। जब तक उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता, तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा, और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी के प्रति सबसे अधिक अत्याचार हुआ है। यदि समाज में कोई सबसे अधिक अपमानित रहा है तो वह नारी है। उसने समाज की कुत्सित रुचि पर तिल-तिल करके

१. वही, पृ० १४५

अपने को होमा है। नारी के विराट् दैन्य के अन्त-स्पन्दनहीन ठूह पर यह साम्राज्य की नयनहारी रथयात्रा चली जा रही है, किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि वह इस ठूह की नगण्य गणिका मात्र होकर भी धधक कर किसी भी समय इस समूचे जंगल को भस्म कर सकती है। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है, यद्यपि स्त्री अपने को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री को ठीक समझ कर उसका उचित सहयोग पाकर ही पुरुष मुक्त हो सकता है।

स्त्री मे आसक्ति रखना भी अनुचित है और उससे घृणा करना भी अनुचित है। न तो वैरागियो की-सी घृणा ही पुरुष को मुक्ति दे सकती है और न नारी के पिंड-रूप मे वासना रखने वाले ही कृतकार्य होते हैं। उसके शरीर को देव-मन्दिर समझकर साधारणत. पुरुष को उसमे प्रेम के देवता की भावना करनी चाहिये। पुरुष अपने दर्प-मद मे शक्ति-रूपा नारी को भूल जाता है, उसके समुचित सम्मान की अवहेलना करके अपने को सकट म डाल लेता है।

इस प्रकार लेखक ने सकेत रूप मे यह हल प्रस्तुत किया है—

(१) नारी का सम्मान करना चाहिये।

(२) उसकी शक्ति का समुचित उपयोग करना चाहिये।

(३) उसका सौन्दर्य आदर की वस्तु है और उसका हृदय पूज्य है।

एक दूसरी समस्या है, क्या प्रेम अपने शुद्धतम रूप में व्यवहार्य है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम के मूल मे यौन-संबंध की कल्पना की है, किन्तु आत्मकथाकार की प्रस्थापना दूसरी है। वह नर-नारी के प्रेम मे यौन-संबध को सर्वदा अनिवार्य नही मानता। वह तो उनके बीच मे एक विशुद्ध प्रेम की कल्पना भी करता है जिसमे किसी प्रकार का स्वार्थ या कलुष नहीं है। बाणभट्ट और भट्टिनी के मध्य इसी प्रकार का प्रेम है। इसमें वासना का कहीं नाम तक नही है। इसमे न तो वासना की दुर्गन्ध है और न रूप का सम्मोहन है। बाणभट्ट भट्टिनी के रूप का प्रशंसक है, किन्तु आदर के लिए, यौन-भावना से प्रेरित होकर नहीं।

आत्मकथा के इस प्रेम ने आज के प्रेम-साहित्य को एक बहुत बडी चुनौती दी है। आज का साहित्यिक वातावरण सामाजिक कुंठाओ का अजायबघर बनता जा रहा है जिससे समाज की रुचि उठने के स्थान पर गिरती चली जा रही है। आत्मकथा के लेखक ने इस भयकर परंपरा को रोकने का अपूर्व एवं ऐतिहासिक प्रयत्न किया है। बहुतसे आलोचक आत्मकथा के प्रेम को अव्यवहार्य एवं अमनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किन्तु उनका यह निष्कर्ष लोक की वर्तमान रुचि के ऊपर ही आधारित होगा। आदर्श प्रेम का यह रूप असंभव एवं अव्यवहार्य नहीं है। इस प्रेम की पीठिका मे 'नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय का प्रसार है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श प्रेम के प्रश्न का यह कृति एक सफल उत्तर है।

धर्म का समन्वय मानव की समस्या रहा है। बाणभट्ट के इन शब्दों में लेखक समन्वय की ओर ही संकेत करता है—"मुझे भैरवी चक्र के विग्रह की पृष्ठभूमि में महावराह की वेदी ऐसी अद्भुत दिखायी पड़ी कि एक क्षण के लिए मैं उसे भविष्य का निमित्त-निर्देशक समझे बिना न रह सका। यह एक दिन के लिए जो परस्पर विरोधी प्रतीकों का समन्वय हुआ है, वह आकस्मिक हो सकता है, पर अकारण निश्चय ही नहीं है, इसमें किसी भावी विरोधाभास की सूचना है।"

सत्य को धर्म कहा जाता है अथवा वह धर्म का आधार है, किन्तु सत्य स्वयं समाज की समस्या है। क्या झूठ के बिना भी समाज का काम चल सकता है? नहीं, जो समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिए ही तैयार की गयी है, उसे मान कर अगर कोई कल्याण कार्य करना चाहते हैं, तो आपको झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इस समाज-व्यवस्था में सत्य प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है, जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है, भले ही ऊपर से वह झूठ जैसा ही दिखायी देता हो।

कुछ लोगों की कल्पना में निःशस्त्रीकरण और राज्यहीन समाज ही नहीं है, वरन् असैन्य-समाज भी है। वर्तमान परिस्थितियों में यह कल्पना एक समस्या बन बैठी है। यों तो महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिये हैं, भ्रातृ-भाव और जीव-दया के बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। कभी-कभी मनुष्य निराशा से कातर हो उठता है। वह सोचता है कि जब तक सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक ये अमानवीय काण्ड होते ही रहेंगे, किन्तु यह एक प्रश्न है कि क्या मनुष्य सम्पत्ति के मोह को त्याग सकेगा, क्या सैन्य-संगठन न हो, यह संभव होगा? शायद दर्पहीन मनुष्य ही राज्यहीन समाज का निर्माण कर सकेगा।

अन्याय को रोकने के लिए क्या समाज राजाओं का मुंह ताकता रहे अथवा मृत्यु के भय से मानव को गतिहीन एवं अकर्मण्य बन जाना चाहिये। नहीं, इससे अन्याय नहीं रुकता, मृत्यु नहीं टलती। न्याय स्वयं बहुत कम आता है। वह जहाँ भी मिले उसे खींच ले आना चाहिये। न्याय पाना मनुष्य का धर्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है, वह मनुष्य मात्र का उत्तम लक्ष्य है।

क्या राजनीति न्याय की उपेक्षा करा सकती है? क्या राजनीतिक जटिलता दंड से अपराधियों की रक्षा कर सकती है? यह आज की समस्या है। आत्मकथा में इसके हल का संकेत है। अन्याय की उपेक्षा से उसकी वृद्धि होती है, न्याय का हनन होता है, समाज पतित होता चला जाता है और दुष्कर्म बढ़ते चले जाते हैं। इसलिए राज-नीति से न्याय को सुरक्षित एवं असपृक्त रखना चाहिये। न्याय पक्ष-विपक्ष या किसी

स्तर-भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, किन्तु क्या स्तर-भेद मिट सकता है।

वह अवश्य मिट सकता है। वह केवल वर्ण और वर्ग में ही नहीं, सेना में भी है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी था और अब भी है। गोरी जातियाँ कालों के प्रति, बड़ा छोटे के प्रति भेद-भाव रखता है। यह अशुभ लक्षण है। इससे एकता खंडित होती है, आत्मरक्षा की शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए आत्मकथा में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक की एकता की पुकार है।

यह अभेद-भाव ही किसी जाति की शक्ति है। भारत की अनेक वाहिनियाँ शत्रुओं के सामने जो घुटने टेक गयीं, उसका कारण स्तर-भेद था। उसके विपरीत बाहर से आक्रमण करने वाली सेनाओं में यह स्तर-भेद कभी नहीं रहा। उन्होंने मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया। प्रबल प्रतापी गुप्त राजाओं ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह गलती थी। गोविन्दगुप्त ने इस रहस्य को समझा था, पर गुप्त सम्राट् इसे नहीं समझ सके। इसलिए वे उच्छिन्न हो गये।

स्तर-भेद ने भारत ने अपने को अनेक बार संकट में डाला। बाहर के लोग यहाँ राज करते रहे। क्यों? इसीलिए कि यहाँ स्तर-भेद ने समाज की दृढ़ता को खोखला कर दिया। यहाँ किसी यवन-कन्या से विवाह करना एक सामाजिक विद्रोह माना जाता है। क्या यवन-कन्या मनुष्य नहीं है अथवा ब्राह्मण युवा मानवीय ऊँचाई की कौनसी सीढ़ी पर आसीन है? भारत में यह ऊँच-नीच का भाव बहुत भयंकर है। यहाँ जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं, जो नीचे हैं उनकी निचाई का अनुमान सामाजिक लज्जा का कारण है। यहाँ की स्त्रियों में भी रानी से लेकर परिचारिका तक और गणिका से लेकर वार-विलासिनी तक सैकड़ों भेद हैं। जब तक निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटायी नहीं जाती तब तक वास्तविक शान्ति असम्भव है। जहाँ एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती हो, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता हो, वहाँ इससे बढ़ कर अशान्ति का और क्या कारण हो सकता है? जिस समाज में इतने स्तर-भेद नहीं हैं, वहीं स्वर्ग की झलक मिल सकती है। यह दुःख-ताप, निर्यातन, घर्षण, परदारानिमर्ष आदि विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।

वेतन-भोगी सेना या किसी एक जाति द्वारा देश की रक्षा का प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। यहां के लोग राजाओं या राजपुत्रों की सेना का मुँह ताका करते थे। उन्होंने आत्मरक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ रखा था। अब भी कुछ लोगों ने यह काम सेना का ही मान रखा है। यह बड़ी मूर्खता है। वस्तुतः यह काम देश के सभी युवकों का है। उस देश के युवक ही इस भार को अच्छी तरह सँभाल सकते हैं जहाँ एक समाज और एक धर्म है और जहाँ देश-रक्षा को सबका समान धर्म समझा जाता है।

भारत में विधवा भी समाज की एक समस्या है। विवाह के बाद ही पति की मृत्यु एक नवयुवती पर भयंकर वज्रपात नहीं तो क्या है? भारत देश में यह समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है। विधवा का यहाँ किन-किन भीतरी-बाहरी संकटों का सामना करना पड़ता है, यह देखकर किसी भी विचारक का मन तिलमिला उठता है। अनेक पारिवारिक और सामाजिक अत्याचार उसे अनेक बार न केवल घर छोड़ भागने के लिए ही विवश कर देते हैं, अपितु आत्म-हत्या तक के लिए मजबूर कर देते हैं। आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र स्त्रियों की कितनी दुर्दशा होती है, यह समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए लेखक ने विधवा-विवाह की ओर भी एक सूक्ष्म संकेत किया है।

आज भारत में जिस असंयम की शिकायत की जाती है उसके मूल में यहाँ के युवक-समाज का कर्तव्य के प्रति प्रमाद है। जब तक युवक-समाज सचेत नहीं होता, अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं होता, यह शिकायत दूर नहीं हो सकती। युवक-समाज किसी भी देश की 'रीढ़' होता है। उसके सँभलने पर देश का उद्धार हो जाता है, उसके गिरने पर देश गिर जाता है। इसीलिए लेखक ने महामाया के मुख से इस 'उद्बोधन मंत्र' का उच्चारण करवाया है—"आर्यावर्त के तरुणो, जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो।" "जिस आधार पर खड़े होने जा रहे हो, वह दुर्बल है।" "सम्हल जाओ जवानो," "आँधी की भाँति बहो" "शत्रुओं को तिनके की भाँति उड़ा ले जाओ।" "संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है।"[१]

देश को जगाने का काम कौन करे? यह एक प्रश्न है। अब तक कविता का प्रयोजन एक समस्या रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा कलावादियों की ओर से बड़ी प्रखरता से आता रहा है। पश्चिम में इस नारे की बड़ी धूम रही है, किन्तु 'कला जीवन के लिए है' की धारणा भी एक प्रौढ़ पक्ष धारण करती रही है। इसलिए लेखक ने आत्मकथा के कुछ पात्रों को कविता का क्षेत्र और प्रयोजन अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है। भट्टिनी का कहना है—"श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है।" "छंद और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं है। प्राण है रस, विशुद्ध सात्त्विक रस। जो कविता के द्वारा रस ढाल सकता है, वही सच्चा कवि है, सच्ची कविता की स्रोतस्विनी विगतकल्मष चित्त में उदित होती है। चारित्र्यपूत हृदय ही में सरस्वती का निवास होता है। शक्तिशालिनी वाक्-स्रोतस्विनी ही धरा का कल्मष धो सकती है, उसी से शान्ति का आविर्भाव हो सकता है।"[२] स्तोत्र-वाक्यों में कविता जीवित नहीं रह सकती। ऐसे वातावरण में कविता स्वतः क्लान्त हो जाती है। कविता का निवास विटों और विदूषकों की भौंडी रसिकता में भी नहीं होता। कविता व्यसन-विलासिनी या संकोचशीला नहीं होती। वह मुक्त हृदय के सहज स्पन्दन में निहित होती है। वही एक ही रागात्मक हृदय

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३३७-३:८

२. वही, पृ० १४३

और एक ही करुणासक्ति को हृदयंगम करा सकती है। लोभ, मोह और द्वेष से विकृत पाशविक मानव मन को संवेदनशील और कोमल कविता ही बना सकती है। संसार के इस शुष्क बाजार में अन्तःस्रोता सरिता भी बह रही है, इस भोग-पूजा के बन्धन के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है, यह संवाद कवि के सिवा और कौन दे सकता है? कविता सत्य का रसात्मक प्रचार है जिससे मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ, अनियंत्रित कामनाएँ और अविचारित धारणाएँ कुछ कम भीषण हो सकती हैं। काव्य से मनुष्य की दयाहीन-विवेकहीन-धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती हैं।[1]

इन समस्याओं के अतिरिक्त आत्मकथाकार ने कुछ अन्य प्रश्नों को सामने लाकर उनका उत्तर देने का प्रयत्न किया है जिनमें प्रमुख यह है—'क्या उन्मत्त उत्सव, मादक गान, शृंगार सीत्कार, अघोर-गुंजार, चर्चरी और पटह मनुष्य के स्वस्थ चित्त के अभिव्यंजक हैं?' इसका उत्तर लेखक ने निषेधात्मक वाक्य में दिया है। ये मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुःख भुलाने वाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व यही सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ता-धारा आविल है, उसका पारस्परिक संबंध दुःखपूर्ण है।[2]

इस प्रकार लेखक ने इन समस्याओं के पीछे आधुनिक मानव के मन की ग्रंथियों को प्रस्तुत करके उसकी सुलझन की ओर भी संकेत किया है।

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३४४
२. वही, पृ० १२२-३३

९. जीवन—दर्शन

जीवन-दर्शन

आत्मकथा का लक्ष्य भारतीय संस्कृति में विश्वास पैदा करना है। आज एक विचित्र हवा चल रही है जिसके प्रबल झोंके साहित्य में होकर आ रहे हैं—प्रमुखतः कथा-साहित्य में होकर। आज के बहुत से कहानीकार और उपन्यासकार अपनी इच्छा से जिधर चाहे चले जा रहे हैं। उनको किसी अनुशासन की प्रतीति नहीं हो रही है। समाज में भी ऐसा तत्त्व उपस्थित है जो उनकी गति और कृति को टोकने के स्थान पर प्रोत्साहित करता है। दूसरे प्रकार का समाज ऐसे उपन्यासों से जो भारतीयता को ध्वस्त कर रहे हैं, ऊब रहा है, क्षोभ व्यक्त कर रहा है, फिर भी इनकी संख्या कम नहीं हो रही है। आत्मकथाकार ने बड़े संयम और कौशल से भारतीय संस्कृति को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। छठी-सातवीं शताब्दी के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक तत्त्वों को ही नहीं, वरन् उसने राजनीतिक परिस्थितियों को भी सामने ला रखा है। इन सब परिस्थितियों में सांस्कृतिक गौरव की रक्षा का प्रयास है। समाज का विगलित पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा है, किन्तु कलाकार की प्रशस्ति का रुख स्वस्थ पक्ष की ओर ही रहा है। भारतीय संस्कृति के स्वस्थ पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए लेखक की आत्मप्रधानिक प्रतिमा सदैव सतर्क रही है। बाणभट्ट के मुख से आर्यों की यज्ञ-संस्कृति के प्रति उत्साह व्यक्त करते हुए लेखक ने इसी प्रतिमा का परिचय दिया है—

"फिर मेरा गृह यज्ञभूमि की कालिमा से दिशाओं को धवल बना देगा। फिर मेरे द्वार पर वेद मन्त्रों का उच्चारण करती हुई शुक सारिकाएँ जनों को पद-पद पर टोका करेंगी।१"

लेखक ने भाग्य को बड़े ध्यान से देखा है। उसने देखा है कि मनुष्य चाहे लाख प्रयत्न करे वह भाग्य का विपर्यय नहीं कर सकता। अदृष्ट के कण्टक में उलझ कर उसके कष्टों से बचना मनुष्य के वश की बात नहीं है। जो होना होता है वह होकर रहता है और जो होना चाहिये उसके सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ कहना असम्भव है। इसीलिए बाणभट्ट को कहना पड़ा है—

"भाग्य को कौन बदल सकता है? विधि की प्रबल लेखनी से जो कुछ लिख दिया गया है, उसे कौन मिटा सकता है? अदृष्ट के पारावार को उलीचने में अब तक कौन समर्थ हुआ है?"२

मनुष्य अपने कर्त्तव्य पर गर्व करने लगता है। वह अपने को किसी का आश्रय-

---

१. बा० आ० क०, प्रथम संस्करण, पृ० १५

२. बा० आ० क०, प्रथम संस्करण, पृ० १५

दाता समझने की भूल कर सकता है। महावराह की उपासना करती हुई अश्रु-सिक्त निपुणिका ने बाणभट्ट की आँखें खोल दी। वह उद्बुद्ध होकर कहने लगा—

"किसे आश्रय देने की बात मैं कह रहा था? निपुणिका को जो आश्रय मिला है, उसकी तुलना में मेरा आश्रय कितना तुच्छ, कितना नगण्य और कितना अकिंचन है? मेरे पुरुषत्व का गर्व, कौलीन्य का गर्व और पाण्डित्य का गर्व क्षण भर में भरभरा के गिर गये।"[१]

आत्मकथा का लेखक संस्कृति का पक्षपाती है, किन्तु उसकी विकृतियों का समर्थक नहीं है। निपुणिका को दिये हुए बाणभट्ट के उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उसमें मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।"[२]

इसमें स्पष्ट हो जाता है कि लेखक को गतानुगतिकता अभिप्रेत नहीं है। वह बुद्धि को बाँध कर नहीं सोचता, वह उसको खोलकर सोचने के पक्ष में है। इस विचार में एक नवीनता है, रूढ़ विचारों को तोड़ने का सकल्प है। सद्बुद्धि की प्रेरणा से उचित दिशा पकड़ना मनुष्य का पावन कर्त्तव्य है। इस दिशा में आने वाले अन्तरायों या संकटों की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बाण की उक्ति में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

"मैं अपने को इन दो रिपुओं (मोह और लोभ) से बचा नहीं सका हूँ। आज ही मैंने एक महान् संकल्प किया है। मैं नहीं जानता कि इसमें मैं कहाँ तक सफल हूँगा। अनुचित कार्यों से मैं अपने को सदा बचा नहीं पाया हूँ, पर उचित कर्मों को अवसर आने पर करने के लिए मैंने अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की है।।"[३]

इस उक्ति में प्रयत्न पक्ष-पर विशेष बल दिया गया है, सफलता की चिन्ता को व्यर्थ बतलाया गया है। इसमें 'कर्मण्येवाधिकारस्तेय मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्त का कितना स्पष्ट समर्थन है।

निर्भीकता और विश्वास मानव के प्रमुख सहायक भाव हैं। इनसे गति और कृति में दृढ़ता एवं सौष्ठव का समावेश होता है। अघोर भैरव के उपदेश में इन्हीं भावों का समर्थन है—

"डरना नहीं चाहिये। जिस पर विश्वास करना चाहिये उस पर पूरा विश्वास करना चाहिये, चाहे परिणाम जो हो। जिसे मानना चाहिये उसे अन्त तक मानना चाहिये।"[४]

---

१. बा० आ० क०, पृ० २५-२६

२. बा० आ० क०, पृ० २७

३. वही, पृ० २७

४. बा० आ० क०, पृ० ९६

इसमे संदेह नही कि आधुनिक साहित्य में नारी के पद को ऊँचा किया गया है, किन्तु साहित्यकार ने नारी के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है या उसकी दशा पर अश्रुपात की चेष्टा करते हुए करुणा व्यक्त की है। साहित्य की इस चेष्टा मे समाज मे क्षोभ भी है और ग्लानि भी है। आत्मकथा के लेखक ने नारी मे सौंदर्य को प्रमुख रूप से देखा है। कथाओ की अभिव्यक्ति-परंपरा मे नारी के सौंदर्य की अभिव्यंजना वासना से असंपृक्त नही रह पाई है। जहाँ कही पुरुष ने उसे देखा है वासना के द्वार से देखा है, किन्तु आत्मकथाकार ने इस सौंदर्य को भावना के बडे ऊँचे स्तर से देखा है। इसी से तो बाणभट्ट कहता है—

"मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ। मेरे मन मे रह-रह कर यही ध्वनि निकलती रही है कि नारी सौंदर्य यहाँ वन्ध्य है, निष्फल है, ऊसर है। क्यो ऐसा हुआ ? इस महान् शक्तिशाली तत्त्व से बडी भी कोई शक्ति है क्या, जिसने इसे इस तरह हीनदर्प बना दिया है। १"

नारी के इस सौंदर्य को मनुष्य नही देख पाया है। इसका कारण लेखक को सम्पत्ति मे दीख पडता है। भौतिकतावादी दृष्टिकोण ने पुरुष की सौंदर्य-दर्शिनी दृष्टि कुण्ठित कर दी है। इसी कारण को भट्ट इस प्रकार व्यक्त करता है—

"जिसने इसे हीनदर्प बना दिया है + + वह शक्ति सम्पत्ति ही हो सकती है।२"

जिस प्रकार नारी-सौंदर्य पर दृक्‌पात करके आत्मकथा के लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार उसने सत्य के संबंध मे भी एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जो सत्य व्यवहार्य नही है, वह सत्य नही है। सत्य समाज की धारणा है। वह समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिये। झूठ घृणा की वस्तु है। किंतु कभी-कभी सत्य के स्थान पर झूठ का उपयोग सामाजिक व्यवस्था मे कल्याणकर सिद्ध होना है। कुमार कृष्णवर्धन बाण को समझाते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

"सत्य अविरोधी होता है। ३"

बौद्ध दार्शनिको ने संवृत्ति-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ-सत्य कह कर उसे विभक्त करने का दंभ फैलाया है, मानो ये दोनो परस्पर विरुद्ध हो। जो मेरा सत्य है यदि वह वस्तुतः सत्य है तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है—त्रिकाल का सत्य है। ४"

"तुम झूठ से शायद घृणा करते हो, मैं भी करता हूँ; परन्तु समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिये ही तैयार की गई है, उसे मानकर अगर कोई कल्याण कार्य

---

१. बा० आ० क०, पृ० ११८

२. वही, पृ० ११९

३. वही, पृ० ३०८

३. बा० आ० क०, पृ० ३७६।

करना चाहो, तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपर से वह कैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो वही सत्य है।१"

लेखक ने इसकी सिद्धि करने के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व से यह उद्धरण दिया है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥

—(म० भा०, शा० प०, ३२९, १३)

सत्य की व्याख्या करते हुए कुमार कृष्णवर्धन आगे कहते हैं—

"लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो वही सत्य है। आचार्य आर्यदेव ने सबसे बड़े सत्य को भी सर्वत्र बोलने का निषेध किया है। औषध के समान अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर सत्य भी विष हो जाता है।२"—

सत्यता पुरुषशालेन वक्तव्या नैव सर्वदा।
औषधं युक्तमस्थाने गरलं न तु जायते॥

—(चतुःशतक, ८।१८)

"हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि इसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है।३" + + "भद्र! इस समय इतना याद रखो कि झूठ बोलना सर्वदा अनुचित नहीं होता।४"

सामान्य समाज प्रतिज्ञा की सफलता को महत्त्व देता है, किन्तु हमारे लेखक की दृष्टि में सफलता का मूल्य नहीं है। प्रतिज्ञा के नीचे—उसके आधार के रूप में जो भूमि है, वह प्रमुख है। प्रयत्नों का प्रेरणा वहीं से मिलती है। बाधाएँ सफलता को बाधित कर सकती हैं और अनेक बार बाधाओं के कारण सफलता पर मनुष्य का अधिकार नहीं रहता। फिर मनुष्य के मूल्य का प्रतिज्ञा की सफलता से आँकना उचित कैसे हो सकता है? निउनिया को सिखाती हुई भट्टिनी के शब्दों में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

"सेवक मेरे पहले भी थे, पर ऐसा सेवाव्रत अभिभावक मुझे पहले नहीं मिला

---

१. बा० आ० क०, पृ० १२८-१२९।
२. वही, पृ० १२९।
३. वही, पृ० १२९।
४. वही, पृ० १३१।

था। तू शायद प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना, बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।"१

नारी के स्वर मे एक निराशाभरी हूक भी निकलती है। नारी के साथ क्या-क्या नही हुआ और क्या-क्या नही हो रहा है। उसने सब कुछ सहा है और सब कुछ सहती जा रही है। भट्टिनी के स्वर म वही हूक इस प्रकार व्यक्त होती है—

"भगवान् की बनाई और लाखो कन्याओ की भाति मैं भी एक मनुष्य-कन्या हूँ। उन्ही की भाँति सुख-दुख का पात्र मैं भी हूँ। उन्हा की भाँति मेरा जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नही है। मेरा अहङ्कार मर चुका है अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्य-गर्व विलुप्त हो चुका है। मैं धर्षिता अपमानिता, कलङ्किनी सौ-सौ मालवियो की भाति सामान्य नारी हूँ। जगत् के दु ख प्रवाह मे फेन-बुद्बुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊँगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जायेगा।२'

दु ख की बात तो यह है कि 'नारी के विरोध मे उच्छृ खल पौरुष खड़ा हुआ है जिसने नारी के गौरव को भुला रखा है। उसकी महिमामयी शक्ति की उसने उपेक्षा कर रखी है। वह नही जानता कि उसकी निर्मर्याद महत्त्वाकाक्षा कितने दोषो को जननी है। राज्य-गठन, सैन्य सचालन, मठ-स्थापन और निर्जन वास पुरुष की समताहीन मर्यादा-हीन, शृ खलाहीन महत्त्वाकाक्षा के परिणाम हैं। और नारी ? नारी इनको नियत्रित करने की एकमात्र शक्ति है। इस रहस्य को महाकवि कालिदास ने पहचाना था। इति हास भी साक्ष्य देता है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त हो गये हैं।"३

इस कृति मे नारी को परम आराध्या के रूप मे देखा गया है। वह देव प्रतिमा है। इस तथ्य की अनुभूति बाण के हृदय ने की है— वे हाड मांस की नारा हैं—न होती तो बाणभट्ट आज इस पवित्र देव प्रतिमा के सामने अपने आपको नि शेष भाव से उँडेल देने म अपनी सार्थकता क्यो मानता ? हाय ! इस ससार ने इस हाड मांस के देव मदिर की पूजा नही की।"४ ससार को अपने आराध्य का पता नही चला। 'वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। उसे अपने परम आराध्य का पता नही लगा।"५

---

१ बा० आ० क०, पृ० १३९।

२ वही, पृ० १४१।

३ देखिये, बा० आ० क०, पृ० १४५।

४ वही, पृ० २०७।

५ वही, पृ० २०७।

पुरुष के वैराग्य मे नारी को त्यागने की भावना ने प्रतिष्ठा पाई और शक्ति-मद ने नारी की शक्ति को देखने से इन्कार कर दिया। एक ओर वह त्याज्य समझी गई और दूसरी ओर बल से प्राप्त करने योग्य विलास की सामग्री समझी गई। उसके हृदयगत सौंदर्य को किसी ने पहचानने का प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि संसार की साधना अधूरी रही। भेद यही है कि "शोभा और कांति विभ्रम और विच्छित्ति पर बिकती रही और माधुर्य तथा लावण्य के स्थान पर हेला और बिब्बोक का अधिक सम्मान किया गया।"

लेखक लौकिक दृष्टि मे विरोधी-भावों को देखता हुआ भी पर्दे के पीछे एक सामरस्य का साक्षात्कार करता है। इसीलिए वह बाण के मुख मे कहलाता है—मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखने वाले आवरणों में एक सामरस्य है—निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है। उस देवता को नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अन्धकार बताया करते हैं, सहजभाव को बंकिम लीला का नाम दिया करते हैं। माधवी लता को घेरकर जब मधुकर-श्रेणी गुंजार करती रहती है, तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर सौरभ के रूप में स्तब्ध उस महादेवता को देख पाता हूँ, नदी जब उन्मत्त वेग मे अपने सर्वस्व को दानों हाथों लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महा-रागमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है, मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष स्थल में क्षण भर के लिए जब विभ्रमवती विद्युत् चमक कर छिप जाती है, तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।"[१]

कभी-कभी लोगों को कुछ भ्रान्तियाँ हो जाती हैं, किसी के विषय में कोई गलत धारणा बन जाती है। जब तक उसकी प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाये, उस धारणा को अभिव्यक्ति नहीं मिलनी चाहिये, क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित व्यक्ति के हृदय को कठोर आघात पहुँचता है। बाण का हृदय ऐसे ही आघात से व्याकुल होकर उसे यह कहने के लिए प्रेरित करता है।

"अपराध क्षमा हो देव, आप चक्रवर्ती राजा हैं। आपके श्रीमुख से निकली हुई यह बात पक्षपातहीन तत्त्वज्ञ की-सी नहीं है।"[२] + + + "महाराजा होने मात्र से किसी को किसी विषय में अन्तर्गत विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता।"[३] "राज-राजेश्वर को क्या इस प्रकार निर्णयात्मक दोषारोपण करना उचित है। न जाने, किस दुर्जन ने मेरे विरुद्ध आप से क्या कह रखा है, उसी के आधार पर मुझे आत्मदोष को जानने दिये बिना आप ऐसी बात कह रहे हैं।"[४]

१. बा० आ० क०, पृ० २०७-२०८।
२. वही, पृ० २२५।
३. वही, पृ० २२४।
४. वही, पृ० २२५।

जिस प्रकार बाणभट्ट नारी-शरीर को देव-मन्दिर मानता है उसी प्रकार सुचरिता भी मानव-देह को नारायण का पवित्र मन्दिर मानती हुई कहती है—

"मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है।"१

मनुष्य यह बड़ी भारी भूल करता है कि वह अपने शरीर में प्रतिष्ठित देवता को नहीं देखता। काश कि वह उसे देख लेता! तो वह "अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता।"२

तपस्वियों और संन्यासियों के प्रति लेखक के व्यंग्य ने समाज की दुर्बलता पर जो प्रहार किया है, वह जीवन-दर्शन का बड़ा सुन्दर पक्ष व्यक्त करता है। सुचरिता की सास ने अपने पुत्र के आवरण की जो भर्त्सना की है उससे संन्यास और तपस्या की कलई खुल जाती है। वृद्धा कहती है—

"बेटा, तू मुझ अभागी को रोती-कलपती छोड़ कौन-सा धर्म कमा रहा है? यह देख, यह तेरी ब्याहता बहू है। अभागे, स्वर्ग में ऐसी कौन-सी अप्सराएँ मिलती होंगी, जिनके लिए तू इस मणि-कांचन प्रतिमा को छोड़ कर तपस्या कर रहा है?" ××× फिर दूसरा रूप धारण करके माँ ने उत्तेजित होकर कहा—"अरे ओ मूढ़, रटी हुई बोली बोल रहा है तू! भण्ड है वह धर्माचार, जो अपनी माता को पहचानने में भी लज्जा अनुभव करता है। इस दु:खमय संसार को और भी दु:खमय बना कर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा? स्वार्थी है तेरा मार्ग, धिक्कार है तेरे पौरुष को।"३

दु:ख से भागना कायरता है और सुख की लिप्सा मोह है। दु:ख और सुख दोनों को स्वीकार करके उन्हें भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने से दोनों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और मन की शान्ति भंग नहीं हो पाती। सुचरिता की उक्ति में इसी भाव का सन्निवेश है—

"मैं अप्रसन्न क्यों हूँगी, आर्य? उन्होंने अन्याय किया है, तो उसका लेखा-जोखा वे जानें। मुझे तो जो भी दु:ख या सुख मिलेगा, उसी से अपने नारायण की पूजा करूँगी।"४

यौवन पर मदान्धता का दोष आरोपित किया जाता है, किन्तु बाणभट्ट उसमें कुछ गुण भी देखता है। उसके प्रश्नोत्तर से यह बात प्रकट हो जाती है—

१. बा० आ० क०, पृ० २३९।
२ वही, पृ० २३९।
३ बा० आ० क०, पृ० २७४–२७५।
४. वही, पृ० २८१।

"कौन कहता है, यौवन मत्त और दुर्ललित है ? उसमें अपूर्व दमात्मक गुण भी तो हैं।"१

कथाकार कोरी भावुकता को हेय समझता है। 'कथनी' के साथ 'करनी' को वह आवश्यक मानता है। अपने दुःख को दुःख समझना क्या बात है ? जब सबके दुःख को अपना दुःख समझा जाये तब समझना चाहिये कि अपने सत्य की अनुभूति हुई। महामाया की त्रुटि को बतलाते हुए अवधूत अघोर भैरव इसी तथ्य को प्रकाशित करते हैं—

"क्या सचमुच जनता के दुःख को तुमने अपना दुःख समझ लिया है ? मैं कहता हूँ महामाया, सत्यवादिनी बना, प्रपंच छोड़ो। तुमने अमृत के पुत्रों को सम्बोधन किया है, क्या तुम स्वयं अमृत की पुत्री बन सकी हो ? तुमने जो कहा है वह करके तभी दिखा सकती हो जब तुम अपने आप को निर्लेप भाव से उनके चरणों में समर्पण कर दोगी। वाग्वीर होना अपना ही अपमान करना है। यदि त्रिपुरभैरवी की लीला को दूसरे रूप में देखना चाहती हो तो स्वयं त्रिपुरभैरवी बने बिना उपाय नहीं है।"२

कुछ लोग सिद्धि को ही साधन समझ बैठते हैं, किन्तु ऐसी समझ अज्ञानता से आवृत होती है। ऐसी समझ के प्रजनन में कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना का योग होता है। प्रमाद से वह रूप ग्रहण करती है, जिससे मनुष्य का नाश होता है। बाणभट्ट की निम्नलिखित उक्ति इसी भाव की वाचिका है—

"अवधूतपाद ने पहले ही दिन मेरे समूचे अस्तित्व को झकझोर कर कहा था कि भट्टिनी ही मेरी देवता है। आज घटना-चक्र ने मेरी सिद्धि को ही साधन बना दिया है। मुझे कहीं से कोई प्रकाश रेखा नहीं दिखाई दे रही, पर सिद्धि को साधन समझना कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना है। इसे रूप-ग्रहण करने देना प्रमाद होगा।"३

कोई भी व्यक्ति सारे जगत् के कल्याण को अपने भीतर नहीं उतार सकता, केवल व्यक्तिगत सत्य ही आचरण में उतारा जा सकता है।"४

मस्ती मनुष्य के अन्तर का एक अद्भुत रस है। वह ऐसा रस-निर्झर है जिससे इतनी उमंग, इतना उल्लास, इतनी निःशंकता झरती रहती है। न कहीं विरोधी पक्ष की संभावना से आशंका है, न किसी पर भले-बुरे प्रभाव से प्रयोजन।५

यह जीवन अभिनय है। यह प्राणों का बंधन, श्वास-प्रश्वास का बंधन अभिनय ही तो है। यह बंधन छूटने वाला नहीं है। यह बंधन ही साधना है, संयम है, मुक्ति है। इस बाधा के कगारों से बँधी हुई जीवन-सरिता ही गतिशील होती है, मस्त होती

१. बा० आ० क०, पृ० २८४।
२. बा० आ० क०, पृ० ३०१।
३. बा० आ० क०, पृ० ३१७।
४. देखिये, वही, पृ० ३१८
५. देखिये, वही, पृ० ३५२।

है, मधुर होती है। बंधन ही सौन्दर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्नरूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं।"१

भारतीय समाज में वशीकरण की बात बहुत होती है।१ वशीकरण हँसी-खेल नहीं है। अपने आप को सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करने को वशीकरण कहते हैं। जहाँ दूसरे को नि:शेष भाव से पाने का प्रयत्न होता है, वहाँ भी वशीकरण होता है। २ मनुष्य जितना देता है उतना ही पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और ग्रहीता दोनों को सार्थक करता है। उसमें जो आनन्द निहित है, वह लौकिक मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता। दु:ख तो केवल मन का विकल्प ही है, मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानन्दस्वरूप है। अपने को नि:शेष भाव से दे देने से ही दु:ख जाता रहता है, परमानन्द प्राप्त होता है। दु:ख को सुख मानना जीवन की बड़ी भारी सिद्धि है।३

प्रेम का सही मूल्य लोगों ने भुला दिया है क्योंकि वे उसके स्वरूप को नहीं समझते। "प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।"४ नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।५ संधान-कर्ता को ही सफलता मिलती है।

प्रेम एक विकार है जो मानव-हृदय का ध्रुव सत्य है। उसे केवल दम्भ से ही छिपाने का प्रयत्न किया जा सकता है, दूसरों को धोखा दिया जा सकता है, किन्तु प्रेम, प्रेम है। वह व्यक्तिगत सत्य है। प्रेम देने से बढ़ता है और प्रेम का समर्पयिता प्रेम से अभिन्न हो जाता है।६

प्रवृत्तियों का दमन हमारी धर्म-साधना का अंग माना जाता है। दमन बुरा है। "प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिये और उनसे दबना भी नहीं चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही कराती हैं। हम बहुत बार अपने देवता को मन-ही-मन पूजते तो रहते हैं, पर हमें पता भी नहीं होता।७"

उल्लास और उन्माद में प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। वह तो अनुराग और

---

१. बा० आ० क०, पृ० ३४६-४७।
२. वही, पृ० ३६६।
३. वही, पृ० ३७२-७३।
४. वही, पृ० ३७७
५. वही, पृ० ३८२
६. देखिये, वही, पृ० ३३०।
७. बा० आ० क०, पृ० ११५

औत्सुक्य में ही होती है। उत्सवों को धर्म में सम्मिलित किया जाता है। क्या ये न्याय हैं? ये मनुष्य समाज की गलती के द्योतक हैं। "यह उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान, ये शृंगचीत्कार, ये अबीर-गुलाल, ये चर्चरी की और यह सब मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुःख भुलाने वाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ताधारा आविल है, उसका पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है।"[1]

प्रेम बहुत कोमल किन्तु उच्च वस्तु है। वह वैराग्य से दमन करने योग्य नहीं है।"[2]

---

१. बा० भा० क०, पृ० १२२-२३।

२. वही, पृ० २७२।

१०. समाज-चित्रण

लेखक या कवि अपने समाज का चित्रकार होता है। जिस प्रकार आड़ी-टेढ़ी रेखाओं से चित्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति का रूप प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार साहित्यकार अपने शब्दों से समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक आधार होने पर भी साहित्यकार अपने समय के समाज को नहीं भुला सकता है। उसके समय में समाज का जो रूप-चित्र होता है उसकी कुरूपता को वह इतिहास के प्रश्रय से दूर करता है। भूत और वर्तमान की अनेक समस्याओं में या तो साम्य होता ही है और यदि नहीं भी होता तो साहित्यकार इतिहास में अपने युग की समस्याओं के साम्य की कल्पना करता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस सामाजिक वातावरण की मीमांसा की गई है, उसका कुछ तो ऐतिहासिक आधार है ही। आधार में कादम्बरी और हर्षचरित के योग को नहीं भुलाया जा सकता। इनके अतिरिक्त अन्य रचनाओं का ऐतिहासिक योग भी स्पष्ट है। इस आधार से राजनीति, धर्म, दर्शन, भक्ति, कला, आचार-विचार, वेश-भूषा रीति-नीति आदि का साक्षात्कार न करना संभव नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लेखक का अभिनव प्रयोग है। उसमें शैली का वैलक्षण्य है, नवीनता है, किन्तु उसके पीछे निहित उद्देश्य से उसमें उपन्यास के रूप को न देखना समीचीन नहीं है। उपन्यास गद्य का महाकाव्य होता है। उसमें लेखक के ऊपर नाटक या कहानी का सा नियंत्रण नहीं होता। उसकी रुचि के ढाँचे में जो-जो बातें 'फिट' होती हैं, उनको वह स्वतन्त्रता से कहता-कहाता है। इस कृति में वस्तु-कथा का सूत्र बहुत क्षीण है, किन्तु लेखक के कौशल ने उसको विस्तार देकर जो औपन्यासिक वैभव प्रदर्शित किया है, वह लेखक की कला का ज्वलन्त उदाहरण है। विस्तारों में वर्णनों का प्रमुख योग है। यों तो अनेक प्रकार के वर्णनों की प्रचुरता से आत्मकथा का प्रवाह कुछ शिथिल और बोझिल हुआ है, किन्तु शैली की नवीनता, औत्सुक्य-वर्धन की चेष्टा और भावों के अद्भुत सामंजस्य ने 'कथा' की रोचकता का ह्रास नहीं होने दिया। यद्यपि उत्सवों का वर्णन तत्कालीन ग्रन्थों पर आधारित है, उस युग को पाठकों के सामने लाकर आधुनिक युग की विकास-लीला में समाहित कर देता है।

राजपरिवार में पुत्र-जन्म के संबंध से नामकरण आदि का महत्त्व दिखला कर लेखक ने इतिहास का साक्ष्य दिया है। उससे आधुनिक जन्मोत्सव परम्परा की कड़ी जोड़ी जा सकती है। ऐसे अवसरों पर प्रायः स्त्रियों की ही संख्या अधिक होती है और इसी रीति को लेखक ने बाण-काल की रीति से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। राज-वधुएँ शिविकाओं पर आरूढ़ होकर जाती थी। परिचारिकाएँ पैदल चलती थी। वे पैरों में

नूपुर तथा हाथों में चूड़ी धारण करती थी, समूह में चलती हुई परिचारिकाओं के नूपुरों और चूड़ियों के क्वणन-रव से एक मोहक संगीत की सृष्टि हो जाती थी। निम्नलिखित वर्णन से परिचारिकाओं की औत्सविक साज-सज्जा का परिचय मिल सकता है—

"जब नगर में पहुँचा, तो बड़ी धूमधाम देखी। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतोदर राजमार्ग पर एक बड़ा भारी जुलूस चला जा रहा था। उसमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। राजवधुएँ बहुमूल्य शिविकाओं पर आरूढ़ थीं। साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरण विघट्टनजनित नूपुरों के क्वणनाद से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुजलताओं के उत्तोलन के कारण मणिजटित चूड़ियाँ चञ्चल हो उठी थीं। इससे बाहुलताएँ भी झंकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों के दमकने से ऐसा लगता था मानो आकाश-गंगा में खिले हुए कमलिनियाँ हवा के झोंकों से विधुनित होकर नीचे उतर आई हों। भीड़ के संघर्ष से उनके कानों के पल्लव खिसक रहे थे। वे एक दूसरे से टकरा जाती थीं। इस प्रकार एक का केयूर दूसरी की चादर में लग कर उसे खरोंच डालता था। पसीने से धुल धुलकर अंगराग उनके चीनांशुकों को रँग रहे थे। साथ में नर्तकियों का भी एक दल चल रहा था। उनके हँसते हुए वदनों को देख कर ऐसा भान होता था कि कोई प्रस्फुटित कुमुदों का वन चला जा रहा है। उनकी चंचल हार-लताएँ जोर-जोर से हिलती हुई उनके वक्षोभाग से टकरा रही थीं, खुली हुई केशराशि सिन्दूर-बिन्दु पर अटक जाती थी। निरंतर गुलाल और अबीर के उड़ते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे और उनके मनोरम गान से सारा राजमार्ग प्रतिध्वनित हो उठा था।"[१]

यह जुलूस राजमार्ग पर चला जा रहा था। राजकन्याएँ, राजवधुओं के पीछे जुलूस के मध्य में थीं। जिस प्रकार जुलूस के एक भाग में बौने, कुबड़े, मूर्ख और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विह्वल होकर भागे जा रहे थे, उसी प्रकार राजकन्याओं के साथ भी नृत्य-गान का आयोजन था, किन्तु वह उद्धत एवं असंयत नहीं था। इसमें संयम, गंभीरता और मनोहारिता थी। राजकन्याएं शिविकाओं में चली जा रही थीं। जुलूस के पीछे के भाग में राजा के चारण और बन्दी लोग विरुद-गान करते हुए जा रहे थे।[२]

सामाजिक उत्सवों का दूसरा रूप मदनोत्सव, होलिकोत्सव आदि में मिलता है। इस समय भी नृत्य, गीत, वाद्य आदि के आयोजन किये जाते थे। नगर के सब लोग आनन्द निमग्न होकर उत्सव मनाते थे। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध आदि सभी लोग इस अवसर पर एकत्र होते थे। ऐसे उत्सवों का आयोजन राजमार्ग पर होता था। मर्दल, वेणु, झल्लरी, कांस्य, कोणी, तन्त्री, पटह, अलाबु वीणा आदि की मनोरम ध्वनि में वारविलासिनियों के नृत्य बहुत आकर्षक हो जाते थे।

---

१ बा० आ० क०, पृ० १२।

२. तुलना कीजिये, कादम्बरी, शुकनास-पुत्रोत्सव-कालीन यात्रा-वर्णन।

दूसरे प्रकार के उत्सव धार्मिक होते थे। वे बौद्ध, वैष्णव या शैव धर्म से संबंधित होते थे। इन उत्सवो की वेश-भूषा इतर उत्सवो के समय की वेश-भूषा से भिन्न होती थी। बौद्ध-उत्सवो पर वेश-भूषा बिल्कुल भिन्न होती थी। बौद्धोत्सवो मे बुद्ध-जन्मोत्सव प्रधान था। वह वैशाखी पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसी दिन तथागत ने जन्म ग्रहण किया था और इसी दिन निर्वाण प्राप्त किया था। हर्ष की राजधानी मे—बौद्ध नरपति के नगर मे तो यह उत्सव और भी धूमधाम से मनाया जाता था। निम्नलिखित वर्णन से उत्सव का एक सूक्ष्म चित्र पाठक के सामने आ सकता है—

"वीथियाँ सुगन्धि से सिक्त थी, पौर भवनो मे मगल पताकाएँ सुशोभित हो रही थी, राजमार्ग की ओर के सभी वातायन मालती-दाम से अलकृत हो रहे थे और पौर-जन नवीन वस्त्र-भूषा से सुसज्जित थे।" ××× "राजमार्ग श्वेत वस्त्रधारी नागरिको से पूर्ण था। उनके वस्त्र, उष्णीष, अङ्गराग और माल्य सभी श्वेत थे। ऐसा जान पड़ता था, सब लोगो ने रजत-धारा मे स्नान किया है।" "विहार सबके लिए खुला था, फिर भी बहुत थोड़े लोग भीतर जाने का साहस कर रहे थे। सभास्थल मे भिक्षुओ का आधिक्य था। गृहस्थो मे स्वयं महाराज और उनके कई निकटवर्ती पदाधिकारी समासीन थे। महाराज के शरीर पर कोई उत्तरीय भी नही था। सारा शरीर सौगधिक अङ्गराग से उपलिप्त था और भुजमूल मे केयूर और हृदय मे एक मौक्तिक-हार के सिवा और कोई भी अलंकार उन्होने नही धारण किया था। वे बहुत शान्तमनोरम दिखाई दे रहे थे। आचार्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, और आचार्य भी अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनको ओर देख रहे थे। सब मिलाकर वहाँ अर्द्धसहस्र व्यक्ति बैठे हुए थे। आधे तो भिक्षु थे और आधे मे महाराजाधिराज के सामन्त और अन्त:पुर की देवियाँ थी। एक महीन तिरस्करिणी (पर्दे) के पीछे देवियो का आसन था।"[१]

धार्मिक और सामाजिक उत्सवो के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के समारोह और हुआ करते थे। इनका आयोजन किसी विशेष व्यक्ति के अभिनन्दन या स्वागत के लिए किया जाता था। ऐसे अवसरो पर उल्लास-विलास को शिष्टाचार की मर्यादा मे रखा जाता था। जिस प्रकार आज-कल किसी बड़े अधिकारी को पुलिस या फौज का 'गार्ड आफ ऑनर' दिया जाता है, उसी प्रकार उक्त उत्सवो पर सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। ऐसे उत्सवो का रूप इस वर्णन से अवगत हो सकता है—

"इसी समय एक दासी ने आकर सूचना दी कि महासामन्त लोरिकदेव अपनी रानी और अनुचरो के साथ द्वार पर खड़े हैं, उनके हाथ मे पूजा के उपकरण हैं, वे प्रविलम्ब भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद पाना चाहते हैं।"[२]

"शत-शत उल्काओ के प्रकाश मे एक विशाल जन-समूह नृत्य गान और वाद्य

१. बा० आ० क०, पृ० २१६-१७।
२. वही, पृ० २६५

से दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा था। सबके आगे घोड़े पर लोरिकदेव थे, उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राजपुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर लोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम कौशल-प्रदर्शन कर रहे थे। XXX एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना वर्णों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से अंग-मोटन, नर्तन, उन्मोटन, विकुंचन और संतोलन की क्रिया दिखा रहे थे। उनके अविरल तालेठ्ठुकन से रह-रह कर दिगन्त घटघटा उठते थे, धनुष्काण्ड और यष्टियोगियों की झनझनाहट से शून्य प्रकम्पित हो उठता था, उद्दाम अंग-विकुंचन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं, बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का अंग-मोटन दूसरे के विकुंचन से उलझ जायेगा। पर आश्चर्य तब होता था जब यह सारा छन्दोहीन विशृङ्खल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्द हो जाता था, समस्त मल्ल युगपत् स्तम्भित होकर एक अद्भुत किलकिलानिनाद करते थे और अनन्तर में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक देवपुत्र तुवरमिलिन्द का जय-निर्घोष भट्टिनी को प्रकम्पित कर देता था। भट्टिनी के गृहद्वार पर मल्लों का दल अपने व्यायाम में ज्यों का त्यों लगा रहने पर भी विचित्र संयम के साथ वर्तुलाकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों जोड़े उसी के समानान्तर वर्तुलाकार फैल गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड थे। लोरिकदेव घोड़े से उतर गये। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर गये।

"भट्टिनी के आते ही लोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शंख-ध्वनि की। देखते-देखते देवपुत्र-नंदिनी के जय-निनाद से दिशाएँ काँपने लगीं XXX। इसी समय लोरिकदेव ने अपनी दमीला अंगुली की विशाल असि को ऊपर उठाया। देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ खड़ाखड़ उठीं। XXX मल्लिकावर्तुल सिम-टता गया। एक बार तो वह इतना छोटा हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। XXX लाठियों के दो मंच बन गये। कुमारियों ने शृंगार-रस से सरोवर द्विपदीखण्ड का गान गाया। XXX कुमारी-कंठ की नूपुरी-तान बहुत मीठी लग रही थी। XX वह नृत्य-कौशल विचित्र था। कुमारियों ने विचित्र सुकुमार भंगिमा से भट्टिनी को घेर लिया। अत्यन्त लघु आयास से उन्हें उठाया और आगे वाले यष्टिमंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक नृत्य चलने लगा।

"भट्टिनी के पीछे वाले मंच पर लोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ भट्टिनी को अर्घ्य दिया। लोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल, पूगी फल और ताम्बूलपत्र भट्टिनी को निवेदन किया।"X

Xबाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २६१-२८

सामाजिक और धार्मिक उत्सवो एव समारोहो के वर्णनो के साथ-साथ लेखक ने प्रकृतिवर्णनो मे भी बडे कौशल का परिचय दिया है। यह ठीक है कि प्रकृति-वर्णनो मे लेखक ने कादम्बरी, हर्षचरित आदि संस्कृत-ग्रंथो से बडी सहायता ली है, किन्तु इन वर्णनो के अनुवाद-सौन्दर्य मे भी अपनी विशेषता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णन-व्यवस्था मे। उपयुक्त स्थल देखकर कथा-प्रवाह मे उसको 'फिट' करना बडे महत्त्व की बात है। प्रभात, मध्याह्न, सध्या, निशा, उषा, ज्योत्सना आदि वर्णना के साथ-साथ वन, नदी, उद्यान, पर्वत, लता, वृक्ष, फूल, फल आदि के वर्णन भी बडे आकर्षक हैं। जिस प्रकार उत्सवो के साथ वसन्त, ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओ के वर्णन भी टँके हुए हैं उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक वर्णना के साथ नगर, ग्राम, आश्रम, मार्ग, उत्सव, मदिर, पुरुष, नारी आदि के वर्णन भी सनिहित हैं। इन वर्णनो के सबध से वृक्ष, फूल, फल, लता, वस्त्र, वेश, पशु, रीति-रिवाज आदि अनेक बातो का परिचय देकर लेखक ने रोमास म काव्य सौन्दर्य भर दिया है।

इन आयाजनो से राजा-प्रजा का सम्बन्ध, गुरु-शिष्य का भाव, आतिथ्य-सत्कार, मदिरा का महत्त्व और दुरुपयोग, नृत्य, वाद्य, सगीत आदि के अनेक भेद, अपभ्रश भाषा के गीतो का प्रचार, दीनार सिक्के का प्रचलन, यात्रा के अनेक साधन, काव्य का स्थान, कवियो का पद, कला का गौरव, सूचना देने की पद्धति, वर्ग-निष्ठा, भोज्य, नारी-पद, शिष्टाचार, सबोधनशैलियाँ, राजसभा का शिष्टाचार, समाज-सौशील्य, वन्दीशाला आदि अनेक बातें पाठक के सामने आजाती हैं।

इस समय समाज मे विखण्डन पैदा हो गया था। उसका कारण देश की भेद-नीति तो थी ही, साथ ही विदेशियो का आक्रमण भी था। धर्म और समाज के टुकडे देश की दुर्बलता के प्रतीक थे। धर्म-भेद ने समाज मे उत्कट भेद-भाव पैदा कर दिया था। महाराज हर्षवर्धन एक धर्म के फेर मे पडकर एक विचित्र परिस्थिति का सामना कर रहे थे। देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। वृद्धो, बालको, बेटियो, बहुओ, देव-मन्दिरो और विहारो की रक्षा की शक्ति देश के नौजवाना मे कुंठित हो गई थी। विद्वानो में स्वतन्त्र सघटन बुद्धि का तिरोभाव-सा लगता था। उत्तरापथ मे लाख-लाख निरीह बहुओ और बेटियो के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। स्त्रियाँ अपमानित लाछित और अकारण दण्डित होती थी और इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तो और राजाओ के अन्त पुर थे।

राजपरिवार के प्रति क्षोभ की भावना ने पकना प्रारम्भ कर दिया था। अतएव देश के लोगो मे बडे बडे उपदेशक क्रान्ति की आग जलाने का उपक्रम कर रहे थे। वे उन्हें राजा से भयभीत न होने के लिए जगा रहे थे। आश्रित सामन्तो की नाक बचाना महाराजा ने अपना कर्तव्य बना लिया था, किन्तु उनके कुकर्मों और अत्याचारो की ओर से उन्होने लोचन बन्द कर लिये थे। राजाओ के ऐसे आचरण के पीछे अन्याय की परंपरा

रही है। यह पहला अन्याय नहीं था, अन्तिम भी नहीं था। यह दुर्वह सम्पत्ति का विपरीत रूप था। इनके लिए न्याय की प्रार्थना को व्यर्थ बतलाया जा रहा था। धर्म की रक्षा के लिए अपने को मिटा देने की भावना और संकल्प की आवश्यकता थी। अतएव अनुनय-विनय एवं शास्त्र-वाक्यों की संगति लगाने की बात को धर्म-रक्षा में व्यर्थ बतलाया जा रहा था। लोग मान-मर्यादा की ओर से उदासीन हो बैठे थे, वे राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने हुए थे। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था, जो एक अशुभ लक्षण था।

वे लोग भूल चले थे कि धर्म के लिए प्राणों की भी आवश्यकता हो सकती है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है। वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। लोगों को न्याय की चिन्ता नहीं रही थी। वे उसे किसी भी स्थान से बलपूर्वक खींच लाने के लिए सन्नद्ध नहीं थे। वे भूल गये थे कि न्याय पाना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है।

राजाओं, महाराजाओं और सामन्तों को स्वार्थ अपना गुलाम बना रहा था। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी, विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी। धर्माचरण में व्याघात उपस्थित होने का प्रमुख कारण यह था कि राजा अन्धा था, प्रजा अन्धी थी और विद्वान् अन्धे थे। ब्राह्मणों और चाण्डालों के बीच की एकता विशृंखल हो गई थी और समाज ने राजपुत्रों की वेतन-भोगी सेना को रक्षा का साधन मान रखा था।[१] इस समय प्रजा में असन्तोष छा रहा था।[२]

नगरों में विदग्ध रसिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका छन्दानुरोध न कर सकने से ऐसे लोग अनेक स्त्रियों के विषय में अपवाद फैला देते थे। बौद्ध धर्म और सनातन धर्म में बड़े कूट दाव-पेचों का प्रयोग किया जाता था। इन धर्मों ने मानों मनुष्य की चिन्ता छोड़ दी थी। धर्म-गुरुओं को अपने-अपने मत का डिंडिम पीटना ही अभिप्रेत था। एक धर्म के साथ राजा था और दूसरे के साथ प्रजा थी। थोड़े-से पण्डित-मानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि में, प्रजा ही नहीं, राजा भी जल रहा था और समूचा आर्यावर्त उस ज्वाला के तट पर खड़ा था।

आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये थे। प्रबल प्रतापी गुप्त नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह गलती थी। देश में आभीरों ने प्रभूत शक्ति संचित करली थी। उनमें किसी स्तर-भेद के लिए अवकाश नहीं दिया गया था।

सामन्त लोग अपनी-अपनी शक्ति के बढ़ाने के उपायों में संलग्न थे। भारतवर्ष

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २५६-५८।

२. वही, पृ० २८१.

के समाज में सहस्रों जाति-भेद दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो ऊँचे थे वे बहुत ऊँचे थे और जो नीचे थे उनकी निचाई का भी कोई आरपार नहीं था। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वारविलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं थे। वे सब रानी थीं, सब परिचारिका थीं। उस समय भी निकृष्ट सामाजिक जटिलता के हटाने की आवश्यकता की प्रतीति हो रही थी।

निम्न वर्ण के लोगों की दृष्टि में ब्राह्मण अब भी देवता थे। वृद्ध महिला के ये वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

"तुम ब्राह्मण हो आर्य, पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा।"१

फिर भी ब्राह्मण की कलई खुल चुकी थी। उसे डरपोक, मिथ्याचारी, दम्भी, पाखण्डी, प्रपञ्ची आदि अनेक विशेषण भी प्राप्त हो चुके थे।२

इस समय वेश्या नारी-कलंक थी। समाज में उसकी कला की तो प्रशंसा होती थी, किन्तु वह स्वयं सम्मानित नहीं होती थी। उसका आवास बहुत सुन्दर होता था। गीत, संगीत, नृत्य के अतिरिक्त वह चित्रकला में भी प्रवीण होती थी। वह नाटकों में अभिनय भी करती थी। कुछ वेश्याओं को राज्य आश्रय भी मिलता था और उत्सवों के अवसर पर वह प्रासादों की शोभा बढ़ाती थी।

गुरु प्रायः धर्मगुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे। धर्मगुरुओं का उस समय बड़ा ही आदर होता था। भारत में गुरु का आदर बहुत पुराने समय से होता आ रहा था। रहस्यात्मक साधनाओं के विकास ने गुरु के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया था।

उस समय दो प्रकार के काव्यों की परम्परा थी—देव-काव्य और नर-काव्य। नर-काव्य भी दो प्रकार का माना जाता था—मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित तथा जीवित व्यक्तियों से संबंधित। जीवित व्यक्तियों से संबंधित काव्य को अशुभ समझा जाता था।

कवियों की वेश भूषा तथा रुचि कुछ और ही होती थी। धावक और बाण के वर्णन से उसका पता चल सकता है। "धावक वर्तुल जीवन्त परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अंगराग से उपलिप्त उसके वक्ष स्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था, भुजमूलों में नकुला का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए धूपित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था, न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही, परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका वाग्रोध नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठा कर अधरोष्ठ को

१ बा० आ० क०, पृ० ८६।

२ बा० आ० क०, पृ० ९६-९७।

प्रावाग के समानान्तर करके बोल रहा था, परन्तु फिर भी निर्बाध अनर्गल कवित्व-धारा इस प्रकार बरस रही थी, मानो कोई उर्ध्व-मुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो।"१ "धावक का वही मस्त चोला, वही सदा प्रफुल्ल मुख, वही पहुंचाना अलबेली छवि। X X धावक ने बाहुमूल वक्षस्थल और चूडा में जमकर मालती दाम का व्यवहार किया है। कस्तूरिका-धूपित उत्तरीय के साथ जाती-कुसुमों में मिलित आमोद से धावक ने अपने इर्द-गिर्द एक अद्भुत सुगंधित वातावरण तैयार कर लिया था।"२ बाणभट्ट की वेश-भूषा३ से भी कवियों के वेश का संकेत मिल सकता है। कवियों का वेश आज भी निराला ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में वेश-भूषाओं के भी वर्ग थे। वारनारियों या वेश्याओं की वेश-भूषा किसी भी कुल-नारी से भिन्न होती थी। उसी प्रकार आभीर नारी की वेश-भूषा राज-वधू की वेश-भूषा से भिन्न होती थी। योद्धों का वेश अधीर पथियों के वेश से भिन्न होता था। उसी प्रकार वैष्णव गुरुओं की वेश-भूषा भी अन्य धर्म-गुरुओं से भिन्न होती थी। देवी के पुजारियों का वेश भी अपने आप में प्रथित होता था।

धर्म-भेद से खान-पान भी भिन्न होता था, किन्तु दूध की बनी हुई मिठाइयाँ सामान्य थीं। इस कृति में भोजनादि का वर्णन बहुत कम दिया है। धर्मानुष्ठानों और उत्सवों के समय मदिरा-पान का उल्लेख आया है। कौलाचार और वामाचार में मदिरा धर्म-प्रतिष्ठित थी। उत्सवों के समय स्त्रियाँ भी मदिरा पीती थीं। मदिरा पीने वाली स्त्रियों में परिचारिकाओं का ही उल्लेख किया गया है।

नाच-गानों के आयोजन बड़े सामान्य थे। सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर गीत, संगीत और नृत्य के आयोजनों से उनके माधुर्य की वृद्धि की जाती थी। राज-परिवारों में ऐसे आयोजन दैनिक चर्या में सम्मिलित थे। वेश्यावासों में भी ऐसे आयोजनों का प्रबन्ध होता था। उत्सवों पर भी दो प्रकार के आयोजन होते थे—सामान्य और विशेष। सामान्य आयोजनों के प्रबन्ध में सामान्य लोगों का हाथ होता था तथा विशेष आयोजन राजा के आदेश तथा प्रश्रय से होते थे।

लोक-गीतों की भाषा संस्कृत नहीं, अपभ्रंश होती थी। अभी तक गीतों की पद पद्धति भली-भाँति विकसित नहीं हुई थी। फिर भी टेक की परम्परा गीतों में विकसित हो चली थी। इन गीतों को अनेक रागों में गाया जाता था। चर्चरी आदि अनेक राग विकसित होगये थे।

---

१. बा० आ० क०, पृ० २५६।

२. वही, पृ० ३४७।

३. बा० आ० क०, पृ० १४—"शुक्ल अंगराग धारण किया, शुक्ल पुष्पों की माला धारण की, आगुल्फ मुक्त धौत उत्तरीय धारण किया यही मेरा प्रिय वेश था।"

आयुर्वेद और ज्योतिष में जनता की रुचि ने अधिक प्रवेश पा लिया था। ज्योतिषी भविष्य को प्रकाशित करते थे, भाग्य की अन्धी कोठरी का परिचय देते थे। उस समय सिद्धान्तों में जिन यावनी सिद्धान्तों की पैठ मिल गई थी, उससे तत्कालीन ज्योतिष विद्या का स्वरूप कुछ का कुछ हो गया था। कर्म-फल और पुनर्जन्म सिद्धान्त का संबंध इस यावनी विद्या से बिल्कुल नहीं था, किन्तु उसके प्रभाव से भारतीय ग्रह-देवताओं ने वर्ण, स्वभाव और लिङ्ग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिया था। बाणभट्ट की इस उक्ति से इस परिवर्तन पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

"इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होराशास्त्र और प्रश्नशास्त्र नामक ज्योतिष विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यावनी पुराण-गाथा के आधार पर रचा हुआ एक भ्रटकरपन्च विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म-फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल ही नहीं है। यहाँ तक कि हमारे पुराण-प्रथित ग्रह-देवताओं की जाति, स्वभाव और लिंग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। हमारे पुराण प्रसिद्ध शुक्र और चन्द्रमा इस ज्योतिष में स्त्री-ग्रह मान लिये गये हैं, क्योंकि यवन-गाथाओं की वीनस और डिएना देवियाँ हैं, और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गई हैं। ग्रह-मैत्री का तो अद्भुत विधान है। आर्य-पुराण ग्रंथों से इस मैत्री-बन्ध का कोई समर्थन नहीं होता। इस विद्या ने देश के अशिक्षित जन-समूह को खूब प्रभावित किया है, और धीरे-धीरे यह विद्या कुसंस्कार के रूप में राजाओं और पंडितों में फैलती जाती है। सबसे आश्चर्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध के प्रवर्तित सौगत-मार्ग में भी इसका प्राधान्य स्थापित हो गया है।"[१]

इससे स्पष्ट है कि यावनी ज्योतिष शास्त्र को पहले-पहल अशिक्षितों ने अपनाया फिर कुसंस्कार रूप यह विद्या राजाओं और पंडितों में भी फैलने का उपक्रम कर रही थी। वैदिकों ने इसे अपनाया, यही आश्चर्य की बात नहीं थी, वरन् सौगत लोग भी इसे अपना रहे थे। ज्योतिष के योग से सामाजिकों का मन ऐसी आशंकाओं से पीड़ित हो सकता था—"ऊपर वृश्चिक राशि पश्चिमाकाश में ढलने जा रही थी। उसके पार्श्व में मंगल-ग्रह की लाल तारिका दिखाई दे रही थी। वृश्चिक की पीठ पर मंगल-ग्रह एक विचित्र भय का भाव पैदा कर रहा था, कैसा विचित्र योग है ? तो क्या संहिताओं में जो कहा है कि वृश्चिक राशि पर मंगल के संक्रमण से धरित्री रक्तकर्दम से पिच्छिल हो उठेगी, वह सत्य है ?"[२]

आयुर्वेद भी जनता में बहुत लोकप्रिय बन गया था। आयुर्वेद के घरेलू इलाज बहुत लोकप्रिय हो गये थे। सामान्य व्यक्ति भी कुछ उपचार कर सकता था। बाण का निपुणिका से संबंधित उपचार इसी प्रकार का था।—

१. बा० आ० क०, पृ० १५८–५९।

२ वही, पृ० ३००।

"भट्टिनी ने चतुरतापूर्वक मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचा। मुझे वह औषध याद आई जिसे अपराजिता पुष्प के रस में मिलाकर निपुणिका को देने के लिए अघोरभैरव ने दिया था।"[1]

जल-थल दोनों पर यात्राएँ होती थीं। जल-यात्रा का एक मात्र साधन नौका थी (सागरों में पोतों से भी यात्राएँ होती थीं)। स्थल पर आवागमन के अनेक साधन थे। हाथी, घोड़े, शिविका, पालकी आदि के उल्लेखों से यह न समझ लिया जाये कि रथादि का अभाव था। रथ-यात्रा का उल्लेख रथ के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। संभवतः रथों में घोड़ों के स्थान पर बैलों का प्रयोग कभी इसी समय से प्रारम्भ हुआ हो। जब आभीरों और गुर्जरों के गो-पालन के कारण देश में बैलों की संख्या बढ़ी होगी, तभी कभी उनका प्रयोग गाड़ी में भी किया गया होगा। वैसे बैल सवारी और लादने के काम में पहले से ही आता था।

लेखक ने नारी-समाज में जागृति दिखलाने का प्रयत्न किया है। अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने और देश की रक्षा में अपना योग देने के लिए महामाया आदि नारियों ने जो प्रयत्न दिखलाये हैं वे सम्भवतः (कहा नहीं जा सकता) लेखक की कल्पना से प्रसूत हैं। नारी के अवलापन से क्षुब्ध और उसकी दुर्दशा से खिन्न होकर सुधारवादी दृष्टिकोण सतर्क हो उठा प्रतीत होता है।

नारी की दशा उस समय भी बहुत अच्छी नहीं थी। धर्म की आड़ में नवयुवक तक अपनी नवयुवती पत्नियों को छोड़कर न जाने किन-किन दम-वक्ष में आग्रह फिरते थे, यह बात सुचरिता के चरित्र से स्पष्ट हो सकता है। कभी-कभी स्त्रियों को जीविका की खोज में घर छोड़ना पड़ता था। अवश्य ही मनुष्य के सामाजिक सर्वंश की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष था। अनेक दुखिया परित्यक्ताओं को वाममार्ग या भक्तिमार्ग के सिवा और कहाँ शरण थी? निपुणिका और सुचरिता की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। वे धर्म के प्रश्रय में अपने मन को धोखा देती थीं।

समाज में सामान्य और विशेष शिष्टाचार की कुछ प्रणालियाँ थीं जिनका अनुपालन उचित समय पर आवश्यक होता था। राजा अपनी सभा में विद्वान् का आदर करता था। अन्य वर्णों के लोग ब्राह्मण को प्रणति-दान करते थे। धर्म-गुरुओं के समीप जाने वाले लोग भी विशेष शिष्टाचार का पालन करते थे। कंचुकी आदि वृद्धों को अभिवादन करने की एक सामान्य प्रथा थी। राजप्रासादों में परिचारक-वर्ग में भी अनेक श्रेणियाँ होती थीं और उनमें शिष्टाचार की विशेष पद्धति का निर्वाह होता था। मंदिरों, देवस्थानों, आश्रमों आदि में विशेष शिष्टाचार का अनुशासन किया जाता था। फिर भी उच्छृङ्खलता का अभाव तो तब भी नहीं था। उस समय के युवक समाज को भी किसी अपरिचित वृद्ध या आगन्तुक की मजाक बना देना बाएँ हाथ का खेल था। कुछ धर्म-

[1] बा० आ० क०, पृ० २६०।

ढोगियो से तो युवक-नाग छूटकर मजाक करते थे। चंडी-मंडप के पुजारी के साथ घटी हुई घटनाओ मे कुछ तो युवको द्वारा भी घटाई गई थी।

समाज मे संबोधन करने की जैसी शिष्ट-परम्पराएँ आज हैं वैसी ही तब थी; आज केवल शब्द बदल गये हैं। हला, अज्ज, महादेवि, भद्र, भद्रे, आर्य, देवि, शुभे, आयुष्मान्, वत्स, भदन्त, अम्ब, मात, आर्य, वत्से, बेटी, आचार्यपाद, भट्टारक, महाराज आदि नामो से सबोधन की परम्परा सास्कृतिक इतिहास की एक कड़ी है। शास्त्रो में इन संबोधनो की विशद मीमासा की गई है।

बाणभट्ट की आत्मकथा हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति की भी एक हल्की-सी झाँकी दे देती है। विद्यार्थी लोग कैसे पढते थे और उनकी क्या मर्यादाएँ थी, बौद्ध विहार का वर्णन इनको सहसा हमारे सामने ले आता है। आचार्य-लोग विषय को समझाने के लिए कितना श्रम करते थे और कैसे-कैसे दृष्टान्त देकर उन्हें विषय समझाते थे, इस बात पर कथाकार ने थोडा-सा प्रकाश तो डाला ही है। छात्र लोग आसनो पर बैठते थे। कुछ स्थलो पर स्थंडिलो का उल्लेख भी आया है, किन्तु आश्रमो या विहारो मे नही।

सूचना देने या पत्र भेजने के साधन बडे विचित्र थे। हरकारे पत्र लाते-ले जाते थे। पत्र को वस्त्र की सुन्दर प्रतोलिका मे भेजा जाता था। उस पर भेजने वाले की मुद्रा लगाई जाती थी। पत्रिकाएँ जिस प्रकार लपेटी जाती थी या व्यवस्थित की जाती थी, उससे भेजने वाले के अभिप्राय की सूचना मिल सकती थी। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात प्रकट हो सकती है—"तीन पत्र एक क्षौम वस्त्र की सुन्दर प्रतोलिका मे लिपटे हुए थे। मैंने सावधानी से प्रतोलिका को खोला। भीतर कर्पूर काष्ठ की मनोहर पाटी थी, जिसके चारो ओर लाक्षा-रस से कल्पवल्लो अङ्कित की गई थी। मध्य भाग मे महाराजाधिराज श्री हर्षदेव की मुद्रा थी। मैं आश्चर्य और औत्सुक्य से अभिभूत हो गया। पाटी के नीचे भूर्जपत्र की पंचभंजी (पाँच तहों मे लपेटी हुई) पत्रिका थी। पाँच तह देख कर ही मैं समझ गया कि पत्रिका मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से लिखी गई है।"१+ + +। "चार भाँज का पत्र तो अधीनस्थ सामन्त का पद-गौरव बढाने के लिए लिखा जाता है।२

इस समय प्रचार के साधन भी इतने सरल नही थे। शपथ और सौगन्ध के बल पर प्रचार-कार्य सम्पन्न कराया जाता था। किसी एक स्थान पर या कुछ स्थानो पर पत्र भेज दिये जाते थे और उनके प्रचार के लिए सौगन्ध से पत्र लिखवाये जाते थे। उदाहरण के लिए इस पत्र को देखिये—

"स्वस्ति। पुरुषपुर से सामवेद की कौथुमीशाखा का अध्यायी जैमिनी गोत्रोत्पन्न कान्यकुब्ज भर्वुशर्मा ब्राह्मणों और श्रमणों के नाम पर, देवमन्दिरो और विहारो के

१, बा० आ० क०, पृ० २४२।

२. वही, पृ० २४२।

नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर समस्त आर्यावर्त के निवासियों को आवेदित करता है।"[1]

+ + + + । "अपरंच मैं अशीति पर वृद्ध हूँ। मैं सामाध्यायी वात्स्यकुल ब्राह्मण हूँ। मैं मौखरिया का गुरु हूँ—मैं अपनी ही शपथ देकर निवेदन करता हूँ कि जो कोई इस पत्र को पढ़े, वह इसकी दस प्रतियाँ लिखकर अन्य लोगों को दे दे। यह क्रिया तब तक चलती रहे, जब तक देवपुत्र की प्राणाधिका कन्या का पता न लग जाय। इति शुभमस्तु।"

उस समय की बन्दीशालाओं का उल्लेख भी पाया है। उनकी दशा भी कुछ दिन पहले की जेलों की सी थी। वह पत्थरों का भवन होता था जिसकी ऊँचाई अधिक नहीं होती थी। उसकी छोटी-छोटी गुहा जैसी कोठरियों में बन्दियों को रखा जाता था। नीचे लिखे वर्णन से बन्दीगृह के चित्र की मानसिक अवगति कीजिये—

"बन्दीशाला पत्थरों का बना हुआ एक सुदृढ भवन था, ऊँचाई इतनी कम थी कि कठिनाई से कोई उसके भीतर खड़ा हो सकता था। सारा भवन एक विराट् दिल की भाँति लग रहा था। द्वार पर विशाल अश्वत्थ-वृक्ष उसकी भयंकरता को और भी बढ़ा रहा था। प्रहरियों ने एक बार मेरा नाम पूछा और द्वार खोल दिया। भीतर घुसने पर मैं एक बड़े आँगन में उपस्थित हुआ। इस आँगन के चारों ओर छोटी गुहाकृति कोठरियाँ थीं। मुझे उन्हीं में से एक के द्वार पर ले जाया गया। उनमें हवा या प्रकाश जाने का कोई मार्ग नहीं था। द्वार खुलने पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से वह छोटा-सा घर उद्भासित हो गया। कुट्टिम भूमि पत्थर से पटी हुई थी, परन्तु एक प्रकार की दुर्गन्ध से सारा कक्ष असह्य-सा लग रहा था। उसी में सुचरिता निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति पद्मासन बाँधकर बैठी हुई थी। + + + उसके हाथ और पैर लौह-शृंखला से बँधे थे।"[2]

जिस आर्यधर्म की नींव बड़ी गहरी डाली गई थी इस समय तक उसमें भी विगलन पैदा हो गया था। इसका एक कारण तो यही था कि बाह्य तत्त्वों ने इसकी मौलिकता को भ्रष्ट कर दिया था, चाहे वह थोड़े ही अंश तक क्यों न हुई हो। दूसरा कारण था वैदिक-धर्म में से निकले हुए इतर धर्मों का उदय, जो इस समय स्वयं विकारग्रस्त होकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए भटक रहे थे। वैसे तो इस समय जैन-धर्म भी था, किन्तु लेखक ने उसका कहीं उल्लेख नहीं किया। लेखक ने उसको भुला दिया है, ऐसा तो नहीं लगता, किन्तु उसकी विकृतियों में उसने किसी भयंकरता का साक्षात्कार न किया हो, यह सम्भव है।

पाठक के सामने बाणभट्ट की आत्मकथा में वास्तव में दो ही धर्म आते हैं—सनातन-धर्म और बौद्ध-धर्म। इन दोनों की शाखा-प्रशाखाएँ इनकी मौलिकता को नष्ट

---

१. बा. आ. क., पृ. १९७-१९९।

२. वही, पृ. २९३।

करने के लिए पर्याप्त थी। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म को सत्य और अहिंसा के ऊपर खड़ा किया था, उसमे इस समय हिंसा वेग से बढ रही थी। अनेक मत-मतान्तरो के चक्रो को तर्क-वितर्कों की कँटीली बाढ मे घसीटा जा रहा था। सनातन धर्म भी बौद्धो की विकृतियो के योग से शक्ति, शिव और विष्णु के अवतारो का सहारा लेकर अनेक रूप-कुरूपो मे प्रकट हो रहा था। कौलाचार, वामाचार या शाक्ताचार आदि मे धर्मों की सम्मिलित विकृतियो को न देखना आलोचक या शोधक के वश की बात नही है। डा० हजारीप्रसादजी ने धर्मों को बडी गहराई मे घुसकर उनको उचित शिष्टाचार की दृष्टि से देखा है, किन्तु ऐसी बात नही है कि ऐसे धार्मिक विगलन से वे व्याकुल नही हुए।

'आत्मकथा' मे सभी ललित कलाओ का परिचय मिलता है। इसके अनुसार वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीतकला, और साहित्यकला के साथ-साथ नृत्यकला और नाट्यकला का काफी विकास हो चुका था। अनेक उत्सवो के अवसर पर इनमे से कुछ कलाओ का प्रदर्शन किया जाता था। उनमे से 'मदनोत्सव' प्रधान उत्सव था। जिस प्रकार साहित्य की अनेक शैलियाँ और रूप प्रचलित थे, उसी प्रकार सगीत और नृत्य के भी अनेक प्रकार प्रचलित थे। ऐसे अवसरो पर अनेक प्रतियोगिताएँ होती थी। नाना दिग्देश से समागत कवि, कलाकार और गणिकाएँ नृत्य-गीत की प्रतियोगिता मे उतरती थी। आत्मकथा के अनुसार काव्य-क्षेत्र मे काव्य समस्याओ की पूर्ति का रिवाज भी था। नानाविधि काव्य-समस्याएँ, मानसी काव्य-क्रिया, पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक योग, अक्षर-मुष्टिक, पद्म बिन्दुमती आदि कलाओ से समस्त नागरिका का मनोविनोद होता था।

इन आयोजनो के लिए प्रेक्षागारशालाओ का निर्माण किया जाता था, जहाँ सामाजिको के बैठने के लिए स्थान नियत थे। नाटकाभिनयो मे नाट्यमण्डलियो का योग ही प्रमुख था। सभवत अभिनेता राजाश्रित नही होते थे, बाणभट्ट की आत्मकथा से ऐसी ही ध्वनि निकलती है। नाटक मण्डलियाँ व्यक्तिगत प्रयास के रूप मे ही चलती थी। कालिदास, शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारो के नाटको के अभिनय ही अधिक लोकप्रिय थे। महाराजा हर्षवर्धन भी उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकारो मे गिने जाते थे। उनकी रत्नावली नामक नाटिका का उस समय भी काफी सम्मान था। स्वयं बाणभट्ट ने उसका अभिनय किया कराया था।

प्रेक्षाशाला की बनावट का परिचय इस प्रकार दिया गया है—"विराट पटवास शालप्रांशु सोलह खम्भो पर टिका हुआ था। वह क्रमश नतोदर भूमि को छाए हुए था। सभापति का आसन प्रफुल्ल शतदलो से सजाया गया था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के कवियो के लिए आसन निर्दिष्ट थे और बाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियो के लिए। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरो) के लिए स्थान निर्दिष्ट था और दाहिनी ओर के एक पार्श्व मे तिरस्करिणी (परदा) के पीछे सम्भ्रान्त महिलाओ के लिए स्थान बनाया गया था, सभापति के सामने और वाम ओर के पार्श्व मे समस्त नागरिका के लिए

स्थान निर्दिष्ट था। रंगभूमि ठीक बीच में थी। उसमें अगरु से मिला हुआ सिन्दूरक चूर्ण बिछा हुआ था। वह मयूर-नृत्य या पद्म-नृत्य का आधार था।"[1]

"जो प्रथा है, वह इस चित्र में नहीं दिखाई देती थी क्योंकि ऐसे भित्तिपट्टों के लिए वज्रलेप के लगाने की प्रथा है, जो हवा में ठंडा होकर सूखता है। ऐसे पट्ट बांस की नली में लगे हुए ताम्र-बिन्दुओं के उन तूली-कूर्चकों के योग्य ही होते हैं, जो बछड़ों के कान के रोमों से बनते हैं। इस चित्र में स्पष्ट ही ऐसी रोम-तूलिकाएँ व्यवहृत नहीं हुई थीं, फिर भी भाव-प्रकाश की कैसी मनोहर कला थी। पहले लाल और बाद में काजल रगड़ कर बनाये हुए रंगों से कैसा स्वर्गीय भाव फूट रहा है।"[2]

इनसे यह प्रतीति कराई गई है कि तत्कालीन (बाणकालीन) चित्र भित्तिपट्टों पर बनाये जाते थे। रंगों और तूलिकाओं के निर्माण में विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। साथ ही बाणकालीन और बाण-पूर्वकालीन चित्रोपकरणों में विकास-भेद भी बतलाया गया है। लेखक ने एक स्थान पर ऐसा आभास दिया है जहां भित्तिपट्ट के होने की सम्भावना नहीं है। वहां पाठक को किसी तरह पट्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। उस कल्पना के लिए यह उद्धरण पर्याप्त है—

"प्रमोदवन के पूर्वी सिरे पर अशोक और बकुल वृक्षों के बीच माधवी लता का मण्डप था। उसके चारों ओर कुरबक का बेड़ा दिया हुआ था? उसी एकांत कुंज में + + + उज्जयिनी की प्रधान गणिका एकाग्रचित्त से चित्र बना रही है।"[3]

राजभवनों, मन्दिरों, वेश्यागृहों तथा सामान्य गृहों के वर्णनों के आधार पर तत्कालीन वस्तु-कला का अनुमान किया जा सकता है। राजभवन के अनेक भाग जैसे रहे हों, वैसे हों, किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने ऐतिहासिक आवरण में हमें तत्कालीन राजभवन के दर्शन करा देती है। इसी आवरण में वह पाठक को अन्य भवनों और गृहों के सामने खड़ा कर देती है। मदनश्री के प्रासाद, सुचरिता और निउनिया के आवास तथा चण्डी-मण्डप के वर्णनवास्तु-कला का आभास देने के लिए पर्याप्त हैं। इससे अधिक गुंजाइश की आशा इस कृति से की भी नहीं जा सकती।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मूर्तिकला के विकास पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है। भारतीय और यावनी मूर्तिकला में भेद बतलाया गया है। लेखक ने बड़े कौशल से शकों, कुषाणों और गुप्तों की मूर्ति-कला के अन्तर को प्रकट करके भारतीय संस्कृति के विकास के अध्ययन की प्रेरणा दी है। निम्नलिखित वर्णन से मूर्तिकला का विकास भेद स्पष्ट हो सकता है—

---

१. बा० आ० क०, पृ० १३१।
२ वही, १२३–२४।
३ वही, पृ० १५५।

उस समय स्थान-भेद से लोगों ने शौक अलग-अलग थे। कान्यकुब्ज के लोग बड़े रूढ़िप्रिय और चित्र-प्रवण थे। वे मयूर और पद्म-नृत्य जैसी कला को उस समय तक जिलाये हुए थे और उनका सम्मान भी करते थे। मगध में मयूर-नृत्य देखने की इतनी चंचलता, नहीं थी जितनी कान्यकुब्ज में थी, । मगध इन बातों को कब का छोड़ चुका था। वास्तव में मयूर-नृत्य ताण्डव का सबसे घटिया भेद है। ताल ही इसमें प्रधान है। पैरों को इस वेग से ताल देते-देते संचालित किया जाता था कि उससे कुट्टिम-भूमि के अबीर में पद्म-चित्र बन जाता था। यह कोई बड़ी रस-सिद्धि नहीं थी। नृत्य का प्रधान उद्देश्य वस्तुत रस है। कान्यकुब्ज के लोग लास्य की अपेक्षा ताण्डव में अधिक रुचि रखते थे। वे मनुष्य के मनोभावों की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

आभीर नृत्य भी समाज में स्थान पा चुका था। देव-देवी पूजा के अवसर पर आभीर-युवतियाँ नृत्य-गान करती थी। उनके साथ थोड़े से युवक भी थे जो मर्दल, मुरज और मुरली बजाते थे। देवी-पूजा इन लोगों में बहुमान्य थी। महानवमी के दिन देवी-पूजा का विशेष अवसर होता था।

भक्ति-समारोहों में तथा कीर्तन के समय भी नृत्य होता था, किन्तु वह नृत्य भावा-वेश में होता था। उस नृत्य में कला का योग अनिवार्य नहीं था, अनिवार्य था भाव। इस समय प्राय. कास्य, कोशी और करताल का प्रयोग किया जाता था। इस समय भक्ति-गीत भी गाये जाते थे। वे भी संगीत की अपेक्षा रखते थे।

मृदंग, मुरज, कास्य, करताल, वीणा आदि वाद्य-यंत्रों के साथ गीत और नृत्य की आयोजना का प्रचलन था। कभी-कभी गीत वाद्य-यंत्रों के बिना भी सुने-सुनाये जाते थे। वीणा का सम्मान बहुत था। बाणभट्ट के मुख से वीणा को असमुद्रोत्पन्न कहलवा कर 'आत्मकथाकार' ने वीणा को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया है। 'चर्चरी' आदि नामों से लेखक ने राग-भेद की ओर भी संकेत किया है।

चित्र-कला के संबंध में कई बातें ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व की सामने आती हैं। बाण के समय की और उससे पहले की—जातक काल की—जो चित्रांकन पद्धति थी उसका रूप और भेद भी बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रकट किया गया है। इस भेद को समझने के लिए यह उद्धरण पर्याप्त होगा—

"आजकल दीवार को चूने से पाट कर महिष-चर्म को घोट कर लेप लगाने की, शक नरपतियों ने अपनी बुद्ध-भक्ति के आवेश में इस देश में भारतीय और यावनी शिल्प की जो गंगा-यमुनी मूर्तियाँ तैयार कराई हैं, उन्हें मैं बिल्कुल पसंद नहीं करता। वे न तो मूर्ति के अर्थ-पुरुष की गहराई में जाती हैं, न प्रमेय पाटव में। एक तरफ उनमें यावनी प्रतिमाओं की भाँति अंग-प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया गया होता है, दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को प्रधानता दे दी गई होती है। + + + भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण नरपतियों ने ऊर्ध्वमुख-चरण-

तलवाले पद्मासन ही देखाए हैं। प्रमाण-पाटववाली पावनी मूर्तियोंमें ऐसा पद्मासन ऊर्णा-तन्तु के सिले श्रीनागकुल के समान देखाप लगते हैं। इस मूर्ति में बुद्ध का मस्तक मुण्डित बनाया गया था, जब कि शक-नरपतियों की मूर्तियों में दक्षिणावर्त कुंचित केश कुछ फबते नहीं दिखते। मूर्तिकार ने ऐसी मूर्ति बनाई थी, जिसे देखकर भान होता था कि सचमुच ही बुद्ध बैठे हैं। उनके अर्द्ध-स्तिमित नयन के ऊपर भ्रू-लताएँ चाप-यंत्र की ऊर्ध्व विक्षिप्त पयोरेखाओं की वक्रिमता लिये हुए थी, बल्कि इस प्रकार छाई हुई थी कि वे नासा-वंश के छत्र का काम दे रही थीं। हाथ की अंगुलियाँ स्वाभाविक थीं। कुन्दों की मूर्ति-कलाके साथ उनका कोई दूर का संबंध भी नहीं था। समाधि और निद्रा म एक भद होता है। अधिकाश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नही होने देती, पर यह मूर्ति ऐसा ओज लिये हुए थी कि उनके रोम-रोम से जागरूकता प्रकट हो रही थी।"१

उस समय बुद्ध, वराह, विष्णु, गोपाल, वासुदेव की मूर्तियों के अतिरिक्त शंकर, भैरव और देवी की मूर्तियों का अधिक रिवाज था। गोपाल वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति ने जो शृंगार रस की व्यंजक थी, नया प्रचलन प्राप्त किया था।

साहित्य या काव्य को इस रचना में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। कविता को मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि बतलाया है। कविता ही इस सत्य का प्रचार कर सकती है कि "नरलोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" इस सत्य के विचार से मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ, अनियंत्रित कामनाएँ, अविचारित धारणाएँ कुछ कम भीषण हो सकती है। काव्य से मनुष्य की दयाहीन, विवेकहीन और धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती हैं। म्लेच्छ समझे जाने वाले मनुष्यों के चित्त को कोमल और संवेदनशील बनाने की अमोघ शक्ति कविता या साहित्य में होती है। मनुष्य में लोभ, मोह और द्वेष से जो पशुता बढ़ रही है, उसका निवारण कविता ही कर सकती है। कविता मन्त्र-स्रोता सरिता की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। इस भोग-पूजा के वल्कल के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है, यह संदेश कवि ही दे सकता है। प्रेम और सौन्दर्य की महिमा के प्रचार में भी कविता का बड़ा भारी योग होता है।

सच्चे कवि के वात्सल्यपूत हृदय में ही सरस्वती का निवास होता है। उसकी शक्ति-शालिनी वाक्स्रोतस्विनी इस धरा के कल्मष को धो डालती है। केवल पद्य को ही कविता कहना उचित नहीं है। काव्य-निकष ही गद्य है। छन्द और अलंकार काव्य के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस, विशुद्ध सात्त्विक रस।

इस प्रकार बाणभट्ट की आत्मकथा, जो इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है, कला के ऐतिहासिक स्वरूप को पाठक के सामने ला खड़ा करती है। ईंट और रोड़ों से भानुमती का कुनबा जोड़ने में लेखक ने बड़ी कुशलता से काम किया है।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि लेखक की रुचि की विशदस्पर्शी वर्णन

---

१. बा० आ० क०, पृ० १३०–१३१।

रहे हैं। वर्णन भी तो उसने अनेक प्रकार के किये हैं। जहाँ उसने उषा, प्रभात, मध्याह्न, संध्या, निशा, आदि के मनोहर वर्णन किये हैं, वहाँ वसन्त, ग्रीष्म आदि को भी तो नही छोडा है। वन, पर्वत, नदी, सरोवर के रम्य दृश्यो का अवलोकन लेखक की प्रतिभा ने बडे मनोयोगसे किया है। कुछ स्थानों पर हर्षचरित और कादम्बरी की-सी बडी गहन छाया मिलती है, किन्तु इन वर्णना मे कुछ अधिक शीतलता मिलती है। लेखक इन वर्णनो मे आलोचक बनकर प्रविष्ट हुआ है, कवि बनकर रमा है और जादूगर होकर पाठक के साथ निकलता दृष्टिगोचर होता है। वर्णनो की समाप्ति यहाँ नही हो जाती कवि की रुचि का विहार तो उत्सवो, मानव-रूपो, स्वभावो आदि म भी उसी तल्लीनता से होता है।

यो तो लेखक ने सभी वर्णन बडे उन्मादकारी रूप में किये हैं, किन्तु नर-नारी और स्थान के वर्णन पाठक को समाज से और भी अधिक सम्पृक्त कर देते हैं। इन वर्णनो मे वेशभूषा और समाज की धार्मिक और सामाजिक दशा के जो चित्र उतरे हैं, वे समाज-चित्रण से विलग नही किये जा सकते। प्रमोदवन, वेश्यागृह, सिद्धायतन, धर्मसभा, राज-सभा, बंदीशाला, युद्ध आदि के वर्णन तत्कालीन समाज को प्रस्तुत करने मे बहुत बडा योग देते हैं। चण्डी-मडप का वर्णन पाठक को तत्कालीन समाज मे जिस कमाल के साथ ले जाता है, उसकी कल्पना दूसरे वर्णनो मे भी की जा सकती है। सच तो यह है कि वर्णन समाजके दर्पण हैं। आजका समाज उनमे अपना मुख देखकर उचित कार्य कर सकता है। यह ठीक है कि आज राजाओ और सामन्तो का वह युग नही है, सब कुछ होते हुए भी आज का मनुष्य इतना भ्रान्त नही है। आज जन-जागरण का युग है, ढकोसलो और अ धानुगतियो का युग नही है, किन्तु धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो के पीछे छिपी हुई विकृतियाँ आज भी आत्मकथा मे वर्णित युग से अपना संबध जोड रही हैं। चण्डी-मडप के पुजारी का आज चाहे इतना उपहास न हो, किन्तु उसका मन, न जाने, कितनी अज्ञात कुरसाओ से आकुल न होगा। ग्रामोत्सवो मे आज भी देवी-पूजा के दृश्यो को देखा जा सकता है। भारत के गाँव-गाँव मे (गाँव से बाहर) भग्न चबूतरो पर देवी की प्रतिष्ठा ग्रामोत्सवो का स्मरण कराये बिना नही रह सकती। क्या आज देवी पर नर-बलि चढाने वालो का एकान्ताभाव हो गया है? आज भी पुलिस सूचना दे सकती है कि अमुक व्यक्ति ने अपनी पुत्री का सिर देवी को बलि देने के लिए काट डाला और अमुक व्यक्ति किसी दूसरे बालक को फुसला कर देवी पर चढाने के इरादे मे ले गया। अ ग्रेजो के आने से पहले तो ये पैशाचिक लीलाएँ देश मे सामान्य थी। वज्रतीर्थ के वर्णन को पढ़कर पाठक के रोंगटे खड़े हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही है—

"वज्रतीर्थ एक विशाल श्मशान था। चारो ओर नीम के तेल मे भुने हुए लशुन के समान जलते शवो की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही थी। सारा श्मशान-घाट गिद्धो और स्यारो के पद-चिह्नो से भरा था। हड्डियो और मास के छिन्न खडो के ऊपर संध्या का धूसर प्रकाश बडा भयावना दिखाई दे रहा था।"

११. प्रेम का स्वरूप

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रेम एक समस्या है। यहाँ न तो प्रेम का उदय दीख पड़ता है और न विकास, वरन् आविर्भाव की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भस्मावृत अग्निकणिका की भाँति प्रेम ने तिरोभाव से आविर्भाव प्राप्त किया है। ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न है। इसी के साथ जुड़े हुए कुछ और प्रश्न भी दृष्टिगोचर होते हैं और इन्हीं सब प्रश्नों में प्रेम की समस्या निहित है। आत्मकथा प्रेम के चार रूपों से सम्बन्धित है। एक तो यह कि नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है, दूसरा यह कि कथा का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसकी स्वाभाविक परिणति शुद्ध और अतृप्त प्रेम में ही हो सकती है, तीसरा यह कि कथा के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से इसमें कोई विरोध या दोष नहीं दीखता, पर बाणभट्ट की लेखनी से सम्भवतः अधिक स्पष्ट और अधिक द्वन्द्व अभिव्यक्ति की आशा की जा सकती है और चौथा यह कि आत्मकथा में लज्जा, अवहित्था, जड़िमा आदि मानस-विकारों का प्राचुर्य है। इनका तालमेल बाणभट्ट की प्रकृति और प्रेम-सृष्टि से नहीं बैठता क्योंकि कादम्बरी में अनुभावों, हावों, अयत्नज अलंकारों आदि शारीरिक विकारों का प्राचुर्य है।

उक्त विचार-बिन्दुओं से स्पष्ट है कि (१) आत्मकथा में जिस प्रेम का निरूपण है वह सर्वोन्मुख, व्यापक और एक है, (२) कथा का लक्ष्य शुद्ध और अतृप्त प्रेम है और उसके निर्वाह का प्रयत्न आरम्भ से अन्त तक दृष्टिगत होता है, (३) बाणभट्ट के ऐतिहासिक चरित्र के साथ अतृप्त प्रेम कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है, फिर भी उससे कथा का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध या दूषित नहीं हुआ, और (४) आत्मकथा में प्रेम मानसिक विकारों के रूप में ही आविर्भूत हुआ है।

प्रेम का जो स्वरूप आज के उपन्यासों में प्रशस्त होने लगा है वह आत्मकथा ने स्वीकार नहीं किया। आज के उपन्यास प्रेम के तृप्त रूप को ही मानने लगे हैं क्योंकि वर्तमान लोक में अतृप्त प्रेम की सत्ता पर संदेह किया जाता है। इसमें शक नहीं कि अतृप्त प्रेम में ही प्रेम का उच्चतम आदर्श खोजा जा सकता है, किन्तु वह आत्मविसर्जन के पीछे निहित रहता है, अतएव जब तक आत्मविसर्जन का द्वार नहीं खुलता अतृप्त प्रेम की झाँकी नहीं मिल सकती। आत्मकथा में बाणभट्ट के सम्बन्ध से इसी प्रेम की झाँकी दी गयी है। पाठक बाणभट्ट की आत्मा में प्रवेश करके ही नरलोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त प्रेम के मधुर हृदय को देख सकता है।

प्रेम क्या है ?

प्रेम एक महान् देवता है और मानव-शरीर इसका पवित्र मन्दिर है। बाण के

प्रेम का देवता नारी-शरीर मे प्रतिष्ठित है। इसीलिए वह उसे बहुत पवित्र और पूज्य मानता है। जो प्रेम आज उपेक्षित हो गया है, जिसके चारा ओर कुत्साएँ और कुंठाएँ आरोपित हो गयी हैं, वह बहुत ऊँची और पावन वस्तु है, किन्तु 'अह' की मादकता से विचूर्ण मानव उसको नहीं देख पाता है। प्रेम मानव को विधाता का सर्वोत्कृष्ट उपहार है। विश्व के बहुत थोड़े लोग इस उपहार को स्वीकार कर पाते हैं क्योंकि यह 'अस्मिता' की आड मे छिपा हुआ है। विश्व के बडे-बडे मनीषियो और कवियो को ही इसका साक्षात्कार हो सका है।

प्रेम मनुष्य की बडी बलिष्ठ प्रेरणा भी है। साधारणत इस प्रेरणा का निवारण कठिन है, किन्तु उसका आदान और निर्वाह अयुक्त रूप मे होने पर उन पर कुत्साओं का लेप हो जाता है। बाणभट्ट के सामने सुचरिता का प्रश्न प्रेम का विश्लेषण चाहता है।

सुचरिता बोली—"क्या ऐसा होता है, आर्य? क्या पूर्व जन्म का बन्धन है यह, या परजन्म का निमित्त है? जिस प्रचड दुवार शक्ति के इंगित मात्र से लज्जा का आजन्म लालित बन्धन इस प्रकार शिथिल हो जाता है वह क्या पाप है? उसे राक्षसी शक्ति क्या समझा जाता है, आर्य? मैंने जितने लोगो को यह कहानी सुनाई है, उन सबने *ही बुद्धिमान की भाँति सिर हिलाकर मुझे पापकारिणी बताया है। दीर्घकाल तक मैं* स्वय अपने इस अकारण आरोपित पाप भावना की चितानि मे जलती रही हूँ। वैराग्य क्या इतनी बडी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी नयनाग्नि मे भस्म कराके गौरव अनुभव करे?"

इस प्रश्न का उत्तर ही प्रेम सम्बन्धी शोधकार्य है। प्रेम सुन्दरता नही है सुन्दरता का आधार है। तपोनिष्ठ प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। तपस्या के भीतर से प्रेम का मौलिक रूप आविर्भूत होता है। सुचरिता का बाण का उत्तर इसी का साक्ष्य देता है—'कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की नयनाग्नि से भस्म नही कराया है, बल्कि उसे तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के हाथो प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ, वह आहार निद्रा के समान जड शरीर का विकार्य धर्म-मात्र था। वह दुर्वार था, परन्तु देवता नही था। देवता दुर्वार नही होता, देवी!"

इससे यह न समझ लेना चाहिये कि *प्रेम का शरीर से कोई सम्बन्ध ही नहीं* है। शरीर प्रेम की सिद्धि का साधन है। भीतर और बाहर दोनो जगह प्रेम आविर्भूत होता है। हृदय बँधते हैं और शरीर खींचते-खिंचते हैं। ब्रज-सुन्दरियो के प्रेम की ऐसी ही व्यवस्था थी। भीतर से बाहर तक वे प्रेम शिथिल थी। निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रह-माधुरी के प्रति उनका जो आकर्षण हुआ वह भी तो प्रेम ही था, अन्यथा ब्रजसुन्दरियो का प्रेम ही काम और काम ही प्रेम क्यों होता? जो पार्वती शिव पर

शयन करती थी, अनिकेतन-वासिनी थी, धूप-वर्षा-आँधी-तूफान में स्थिर खड़ी रहती थी और केवल महारात्रि ही अपनी विद्युन्मयी दृष्टि से बीच-बीच में झाँक कर जिसकी महातपस्या की साक्षी बनी रही, क्या उस पार्वती की आसक्ति बाह्य जड़धर्म थी ? कदापि नहीं, पार्वती ने तो शिव को अपना सर्वस्व समझ लिया था, किन्तु शिव ने अपने चित-विकार के हेतु को दिशाओं के उपान्त भाग में खोजा था।

प्रेम की अविभाज्यता

प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल असूया और ईर्ष्या के भाव ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं। आत्मकथा में प्रेम की एकता और अविभाज्यता सुरक्षित है। बाणभट्ट का प्रेम निपुणिका और भट्टिनी, दोनों के प्रति है, किन्तु उनके बीच में ईर्ष्या का कहीं नाम तक नहीं है। एक-दूसरे के प्रति आत्मोत्सर्ग के लिए कटिबद्ध है। भट्ट के प्रश्न के उत्तर में निपुणिका के ये शब्द बड़े अर्थगर्भित हैं—"भट्ट, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम का एकसूत्र कर दिया है।" कहकर ही नहीं, निपुणिका ने तो उसे सिद्ध भी कर दिखाया। जिसे बाणभट्ट अभिनय ही समझता रहा 'वह अभिनय से कहीं अधिक था, भिन्न था। वहाँ वास्तव में निपुणिका ने अपने को ही खोल कर रख दिया।' अन्तिम दृश्य में जब रत्नावली (भट्टिनी) का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी तो वह सचमुच विचलित हो गयी। वह सिर से पैर तक सिहर गयी। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरत-वाक्य समाप्त होते होते वह धरती पर लट गयी। नागर जन जब साधुवाद से दिगन्त को ध्वनित कर रहे थे उस समय पर्दे के पीछे निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी—"हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया।" जिस समय भट्टिनी पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ी, उस समय भट्ट स्तब्ध था। उसके प्रेम की मार्मिकता उसी अवसर पर प्रकट होती है जब कि वह अपने ही शब्दों में कहता है—"अभिनय करके जिसे पाया था, अभिनय करके ही उसे मैंने खो दिया।" अतृप्त प्रेम का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

अतृप्त प्रेम

प्रेम की अभिव्यंजना की नहीं जाती, स्वत: हो जाती है। जहाँ प्रेम का प्रदर्शन होता है वहाँ दर्प होता है अतृप्त प्रेम नहीं हो सकता। बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रेम अभिव्यक्त तो हो जाता है, किन्तु वह मुखर होकर आँखों के सामने नहीं आता। यह कथाकार का कौशल ही नहीं, आदर्श भी है। गूढ़ और अतृप्त प्रेम में कथा की स्वाभाविक परिणति दिखाकर कथाकार ने न तो वास्तविकता से ही विनाश किया है और न

प्रेम को कुण्ठा-प्रवाह म ही बहने दिया है। यहाँ करुणाजनक सयोगो के बोच सहानुभूति के रागात्मक वातावरण म मर्मवेदना का जो स्पर्श होता है वही तो प्रेम की उषा का पदार्पण होता है। निपुणिका और भट्टिनी, दोनो के सम्बन्ध मे यही वातावरण और प्रेमोदय की यही झलक है। सहानुभूति साहचर्य का योग पाकर उत्सर्ग-भाव की प्राजल भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाती है। यह ठीक है कि निपुणिका के इन शब्दो मे बहुत दु ख है—"मेरी ही शपथ करके तुम सत्य सत्य कहो, भार्य, मेरा कौनसा ऐसा पापचरित्र है, जिसके कारण मैं आजीवन दु ख की विदारुण भट्टी मे जलती रही, क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड नही है ?" किन्तु "इन शब्दो में कितना मर्मान्तक दु ख है वह मैं ही जानता हूँ" बाणभट्ट के इन शब्दो में भी सहानुभूति की तीव्रता कुछ कम है। यही हृदय से हृदय तक की पहुँच है। इसमे अधिक गहन वाचिक अनुभाव और क्या हो सकता है ? आलम्बन का उत्कर्ष दिखाने वाले ये वाचिक अनुभाव तो और भी महत्त्वपूर्ण है—"निपुणिका म इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नही। इतने दिना से साथ हूँ, उसक चरित्र मे मैंने कोइ कलुष नही देखा। वह हँसमुख है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, लीलावती है—वे क्या दाष हैं ? ××× निपुणिका मे सेवाभाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है।" बाणभट्ट के ये शब्द निपुणिका के गुणोत्कर्ष की व्याख्या ही नही करते, वरन् हृदय पर पड़े हुए मोहनमन्त्र के प्रभाव का आभास भी देते हैं। "उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा मे की है कि मैं उसका प्रतिपादन जन्म जन्मान्तर मे भी नही कर सकूँगा," बाण की इस उक्ति मे निपुणिका के प्रति न केवल कृतज्ञता की भावना की अभिव्यक्ति है, वरन् अभिभूति से होकर समर्पण का आभास भी है।

निपुणिका के प्रति बाण के प्रेम मे स्वार्थ या वासना की कोई गन्ध नही है। बाण निपुणिका को प्रेम करता है, देखने वाले देखते हैं और समझने वाले समझते हैं, किन्तु उससे मांसल प्रेम प्रमाणित नही होता। प्रेम अपनी पवित्रता को अक्षुण्ण रखता है। इसकी परीक्षा बाण ही के शब्द हैं—"चारुस्मिता, निपुणिका जैसी सेवा-परायण, लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह जड पाषाण पिण्ड से अधिक मूल्य नही रखता।"

जिस प्रकार निपुणिका को बाणभट्ट प्रेम करता है उसी प्रकार निपुणिका भी बाणभट्ट को प्रेम करती है। बाण इसकी सूचना निगूढ एव गूढ सकेतो से प्राप्त कर लेता है। बाण के ये शब्द अदृष्ट प्रेम की उस निगूढता को प्रमाणित कर देते हैं—'उसने पहले कभी भी अपना राग मेरी ओर प्रकट नही किया था, परन्तु उसकी प्रत्येक भाव भगी मे, प्रत्येक सेवा मे एक मौन उल्लास बराबर बताया करता कि इस क्रिया कलाप को अत्यन्त गहराई में कोई और वस्तु है। आज भी वह वस्तु जहाँ की तहाँ है। केवल उसके ऊपरी सतह का फेन हट गया है। आज भी उसके हृदय मन्दिर के अत्यन्त निभृत

में तो प्रेम और भी निगूढ दिखायी पडता है—'फिर भी इधर मेरा चित्त जड होता जा रहा है बुद्धि मुक्त होती जा रही है और मस्तिष्क थोथा हो रहा है। आखिर वह कौनसा अन्तर्विकार है, जो मेरे चित्त को जड बना रहा है और मेरी बुद्धि को मोहग्रस्त बना रहा है। मेरे लिए इसका उत्तर पाना कठिन हो रहा है। आज मैं स्वय अपनी समस्या हो रहा हूँ।"

वास्तव मे वह समस्या नही है, प्रेम की अदृप्तता और निगूढता है। दोनों हृदय खिंच रहे हैं, बहुत पास आ गये है। यह एक निगूढ सत्य है जिससे दोनों हृदय परिचित हैं। इससे भी अधिक विचित्र बात तो यह है कि प्रेम केवल बाण या निपुणिका अथवा बाण या भट्टिनी के बीच ही नहीं है, वरन् निपुणिका और भट्टिनी में भी उतना ही अदृप्त और निगूढ है। यहाँ भी प्रेम का आविर्भाव सहानुभूति और कृतज्ञता मे होता है और दो आश्रयों का एक ही आलबन होते हुए भी दोनो मे किसी ईर्ष्यात्मक विकार का आविर्भाव नही होता, यह इस प्रेम की विचित्रता है। जिस प्रकार बाण और भट्टिनी के मध्य निपुणिका उनके प्रेम की साधिका है उसी प्रकार बाण और निपुणिका के मध्य भट्टिनी उनके प्रेम की साधिका है। भट्टिनी के करुण कातर स्वर मे निकलते हुए ये शब्द इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं—'निपुणिका ने कुछ अनुचित कहा हो, तो मन मे न लाना। वह मुझे अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करती है। तुम्हारे ऊपर उसकी जो अपार श्रद्धा है, उसका प्रमाण तो मिल ही चुका है।" निपुणिका भी भट्टिनी का कोई अनिष्ट सहन नही कर सकती। इसीलिए वह अनुनय के स्वर मे भट्ट को समझाती है—"निउनियाँ की बात छोडो × × ×, पर भट्टिनी बालिका हैं। उन्हें ससार की कटुता का लेशमात्र भी ज्ञान नही है।"

इस प्रेमित्रयी के प्रेम की अदृप्तता और निगूढता को बाण के ये शब्द अधिक अच्छी तरह प्रकट कर देते हैं—"भट्टिनी ने निपुणिका को धीरे धीरे अपनी ओर खीच लिया। वे बडे प्रेम से उसके ललाट पर हाथ फेरती हुई बोली—'ना बहन, ऐसा भी कहते हैं! भट्ट हमारे अभिभावक हैं, उनको सब करने का अधिकार है। हमारे मगल के लिए और सारे देश के मगल के लिए उन्होने जो कुछ भी किया है वह हमे मान्य होना चाहिये।"

इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा मे एक और भी प्रेमित्रयी है जो इतनी प्रशस्त तो नही कही जा सकती, किन्तु अदृप्त प्रेम भावना का सकेत अवश्य देती है और वह है सुचरिता, तपस्वी तथा बाण से निर्मित प्रेमित्रयी। जिस प्रकार सुचरिता का प्रेम बाणभट्ट के प्रति पावन और श्रद्धामय है उसी प्रकार विरतिवज्र के प्रति भी है, किन्तु विरतिवज्र के प्रति उसका प्रेम सम्बन्ध कही अधिक निगूढ है। महामाया और अघोर भैरव का गहन सम्बन्ध भी गूढ प्रेम की दुंदुभी है। एक ओर दोनो की साधना है और दूसरी ओर गहनता है। इसे प्रेम-साधना कहा जाये अथवा साधनात्मक प्रेम। यह एक उलझा हुआ रहस्य है। क्या यह गूढ प्रेम नहीं है?

१२. नारी का महत्त्व

आत्मकथा की अनेक समस्याओं में से नारी की समस्या भी प्रधान है। प्रत्येक युग न नारी की उपेक्षा की। पुरुष ने उसके सही मूल्य को आंकने मे सदैव भूल की। विलासियो ने नारी को विलास की सामग्री समझा और विरक्तो ने नारी के शरीर को नरक-कुण्ड बतलाया। इतिहास ने यही कहा है—"पुरुषो के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति साधना के अतुलनीय आश्रय नारी की एक वक्रिम दृष्टि मे ही तो ढह गये हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नही है ?" यह वह दृष्टिकोण है जो सुन्दरियो की सृष्टि को विघ्नरूप देखता है।

नारी के दु ख की थाह लेन का प्रयत्न किसी ने नही किया। उस दु ख का अनुमान शायद किसी ने नही किया। 'स्त्री के दु ख इतने गभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमाश भी नही बता सकते। उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास सहानुभूति के द्वारा ही पाया जा सकता है। "साधारणत जिन स्त्रियो को चचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमे एक दैवी शक्ति होती है। यह बात लोग भूल जाते हैं।'

इसमे सन्देह नही है कि स्त्री में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनको पुरुष-समाज उसकी दुर्बलता बतलाता है। कहा जाता है कि पुरुष नारी की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है। यदि स्त्रियाँ चाहें भी तो आलस्यहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं? कुछ लोग यह समझने की भूल कर सकते हैं कि 'यूरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं।' यह गलत बात है। वे भी पराधीन हैं। 'समाज की पराधीनता जरूर कम है, पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।' इसके अतिरिक्त सहजभीरुता भी नारी की एक विशेषता या दुर्बलता मानी जाती है। नारी अपने मर्यादा-ज्ञान को कलकित हुए बिना नहीं भुला सकती। उसका आचरण सयम की सीमा नही तोड सकता। सुकुमार भावना नारी का प्रमुख परिचय चिह्न है।

मानव समाज कितना निन्दनीय है कि पशु, पक्षियो और वस्तुओं की तरह इसमे नारी का क्रय विक्रय होता रहा है। प्राचीन भारत मे नगरो म निचली श्रेणी के विटो, विदूषको और लम्पटो के कुछ प्रमुख अड्डे होते थे जहाँ नारियो की इज्जत बिकती थी। नारी की यह दुर्दशा जो आधुनिक भारत के लिए शायद अपरिचित नहीं रही, लेखक के मर्म को छुए बिना नही रहती है। वह उत्कर्षापकर्ष के मिश्र भाव के साथ नारी की व्याख्या इन शब्दो मे प्रस्तुत कराता है—"यह जड मास पिंड न नारी है, न पुरुष। वह निषेधतत्त्व ही नारी है। + + +। जहाँ कही अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहां कही दु ख-सुख

को लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी-तत्त्व है। + + + । नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।" उसका मानस धर्म की उर्वरा भूमि है। इसीलिए धर्म-भावना को प्रश्रय और पोषण स्त्रियों से ही अधिक मिलता है।

कितने खेद की बात है कि त्याग और तपस्या की प्रतिमा नारी के प्रति, सम्मान तो अलग रहा, सहानुभूति भी नहीं दिखाई गई। उसके शरीर को मिट्टी का ढेला समझ लिया गया। लेखक ने इस दुर्दशा को बड़ी वेदना से देखा और वह नारी के मुख से बोल उठा—"मेरा यह शरीर भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है—वह उससे बड़ा है। विधाता ने जब इसे बनाया था, तो उनका उद्देश्य मुझे दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार किया था। फिर वह एक दूसरे स्वर में छटपटा कर बोला—'हे स्वर्ग की देवांगना, तुमने मर्त्य के इन अभिनेताओं को समझने में गलती की है, लेकिन यह प्रमाद बुरा नहीं है।"

नारी-सौन्दर्य संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति है, वह पूजा की वस्तु है। इस रहस्य को बाणभट्ट ने समझा है जो स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता है। इसीलिए वह उस पर की गई अननुकूल टीकाओं को सहन नहीं कर सकता। अज्ञात देवता के पावन मंदिर के प्रति वह परम श्रद्धा रखता है। वह उस मंदिर के उचित गौरव की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहता है। लोगों की आलोचना के डर से उस मंदिर को कीचड़ में धंसा हुआ छोड़ जाना उसके वश की बात नहीं है। वह उस पवित्र देव-प्रतिमा, नारी-सौन्दर्य का अपमान किसी भी दशा में सहन नहीं कर सकता।

नारी से बढ़कर अनमोल रत्न और क्या हो सकता है? नारी की-सी मोहकता, कोमलता, मधुरता और त्याग भावना और कहाँ है? उसके कोमल कंठ में कैसी अद्भुत शक्ति है? फिर भी उसकी ऐसी दुर्दशा! कितने विस्मय की बात है। सचमुच 'स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे। स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी होती हैं।" 'धर्म, कर्म, भक्ति, ज्ञान, शान्ति, सौमनस्य कुछ भी नारी का सम्पर्क पाये बिना मनोहर नहीं होते। नारी-देह वह स्पर्शमणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।

आत्मकथाकार ने नारी को एक अद्भुत शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। राज्य-पतन, सैन्य-संचालन, मद्य-पान और निर्जन वास पुरुष की मदान्धता, मर्यादाहीन, शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनका निवारण कर सकने की शक्ति नारी है। + + + इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य

नष्ट होगये हैं, मठ विध्वस्त होगये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त होगये हैं।

नारी का अपमान कब तक होगा ? क्या वह कभी बन्द नहीं होगा ? यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु क्या इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी ? इस प्रश्न का उत्तर भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है—हाँ, जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य-संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा।

जो लोग नारी का परित्याग करके तपस्या की बात करते हैं वे भूल करते हैं। "नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है।" पुरुष नारी के बिना शान्ति नहीं पा सकता। नारी-तत्त्व शान्ति की प्रथम आवश्यकता है। नारी-तत्त्व की प्रधानता के अभाव से पिंड—ब्रारियों का दल भी सेना में शान्ति की स्थापना नहीं कर सकता। अवधूत की साधना इसीलिए अधूरी रही कि उन्हें विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला, शक्ति नहीं मिली।

शक्ति स्त्री का ही नाम है। स्त्री में त्रिभुवनमोहिनी का वास होता है। निपुणिका के शब्दों में नारी की सार्थकता का कितना सुन्दर संकेत है—"मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है जो आराधक के अभाव में मुरझाया हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान् ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है, मैं अपनी सार्थकता पहचान गई।" + + "सारा जीवन मैं इसी विश्वास पर चलती रही हूँ। जप, तप, साधन, भजन सबका एक लक्ष्य रहा है—सार्थकता।" संक्षेप में दार्शनिक निष्कर्ष केवल यह है कि 'नारी की सफलता पुरुष को बाँधनेमें है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।

१३. साधना तथा नारी

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विचित्र दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें बौद्ध, शैव और शाक्त दर्शन तो हैं ही समाज-दर्शन भी है जिसमें जीवन-दर्शन की झाँकियों में नारी-दर्शन भी है। नारी के सबन्ध में लेखक की अपनी विचार-धारा है यद्यपि उसका सूक्ष्म आधार शाक्त मत में मिल सकता है। इसी प्रकार झूठ और सत्य के सम्बन्ध में भी लेखक ने निश्चित मत दिया है। कुछ मतों की पुष्टि करने के लिए लेखक के पास महाभारतादि ग्रन्थों के तर्क हैं और कुछ उसकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का समस्त वातावरण हर्षकालीन है। यह वह समय था जबकि बौद्ध धर्म विकसित रूप में था। वैदिक धर्म से टक्कर लेने के लिए यदि कोई धर्म उस समय समर्थ था तो बौद्ध धर्म था। इधर शैव मत में कुछ साधनात्मक जटिलताएँ बढ़ गई थीं और उसके नए सिद्धान्त चेहरे पर चेचक के दागों की तरह टँक गये थे। उस समय कौलाचार कुछ नई मान्यताओं में आविर्भूत हो रहा था। शैव मत एक ओर शक्ति की मान्यता की प्रबलता से शाक्त मत को प्रेरित कर रहा था। भक्ति भी अपनी डगमगाती टाँगों से अपनी गति बढ़ाने के लिए जनता का अवलम्ब खोज रही थी। बाणभट्ट की आत्मकथा से यह स्पष्टतः बोधित होता है कि उस समय वाराहोपासना का प्रचार विष्णु के चतुर्भुज रूप से अधिक था।

बौद्ध-दर्शनवाद के शून्यवाद ने देश में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। प्रसंग के दर्शन में 'शून्यता' को बहुत महत्त्व मिल चुका था और उस महत्त्व की चर्चा चारों ओर होती रहती थी। दर्शन के छात्र के लिए 'शून्य' की प्रतिपत्ति एक समस्या थी क्योंकि जो वस्तु है भी नहीं, नहीं भी नहीं, है और नहीं, दोनों में भी नहीं और इन दोनों का अभाव भी नहीं, उसे 'शून्यता' कहा गया। इसका सही बोध 'निरालम्ब' और 'परम-तत्त्व' जैसे शब्द नहीं करा सकते थे।

सौगत पंडितों का एक सम्प्रदाय 'निरालम्ब' शब्द को महत्त्व देने लगा था किन्तु इस निषेधात्मक शब्द से उस वस्तु का बोध नहीं हो सकता था जो "नहीं भी नहीं"। और परम तत्त्व कहने से 'तत्' वस्तु की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी, फिर उसे "है भी नहीं" कैसे कहा जा सकता है?"[१] वस्तुस्थिति यह है कि शून्यता या निरालंब या निर्वाण एक अनुभवगम्य वस्तु है। यह भाषा की कमजोरी है कि वह उस पदार्थ को कह नहीं सकती। यह भी केवल प्रस्थिति के लिए एक काम-चलाऊ शब्द-व्यवहार किया गया है।

---

१. बा० आ० क०, पृ० ६२-६३।

एक दूसरी समस्या इस आत्मकथा मे बुद्ध के पूजा-ग्रहण के संबंध मे उठाई गई है। बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं? इसी प्रश्न से दो शाखाएँ फूटती हैं —प्रथम यह कि बुद्ध पूजा ग्रहण करते है। ऐसी अवस्था मे लोक के साथ उनका संयोग है, व भव के ही अन्तर्गत हैं और दस और मनुष्यों की भाँति एक साधारण व्यक्ति हैं। फिर उनकी पूजा निष्फल हो जाती है, वन्ध्य सिद्ध होती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि व परिनिर्वाण प्राप्त कर गये हैं, लोक के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, व भव से मुक्त हैं। ऐसी अवस्था मे भी उनकी पूजा निष्फल होगी, क्योंकि परिनिर्वाण प्राप्त व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर सकता और ऐसे व्यक्ति के उद्देश्य से निवेदन की हुई पूजा वन्ध्य है, निष्फल है।

इस समस्या का समाधान अग्नि और इंधन के दृष्टान्त मे किया गया है। कोई अतिमहान् अग्नि राशि जब प्रज्वलित होकर निर्वाण को प्राप्त होती है बुझ जाती है, तो तृणकाष्ठ आदि इन्धन-समूह को ग्रहण नहीं करती हैं, किन्तु वह अग्नि जब उपरत-उपशान्त हो जाती है तो संसार मे से अग्नि का होना एक दम नहीं उठ जाता है। क्योंकि इंधन-रूप काष्ठ अग्नि का आश्रय स्थान है, अतएव अग्नि की कामना करने वाले मनुष्य अपने अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। वे काष्ठ का मथन करके या अन्य स्थान से अग्नि-संग्रह करके फिर से महान् अग्नि-राशि उत्पन्न कर लेते हैं और अपना काम चलाते हैं।"[१]

"इसी प्रकार भगवान् की बात समझनी चाहिये।'' जिस प्रकार महान् अग्नि-राशि प्रज्वलित हुई थी, भगवान् भी उसी प्रकार दस सहस्र संसार के ऊपर बुद्ध-लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित हुए थे। जिस प्रकार वह महान् अग्नि राशि प्रज्वलित होकर निर्वाण प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार भगवान् भी दस सहस्र लोक के ऊपर बुद्ध लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित होने के पश्चात् निरवशेष निर्वाण द्वारा परिनिर्वाण प्राप्त हुए थे। जिस प्रकार निर्वाण प्राप्त अग्नि तृण, काष्ठ आदि इन्धनो को नहीं ग्रहण करती, उसी प्रकार लोक हितकारी भगवान् भी कुछ परिग्रहण नहीं करते। परन्तु जिस प्रकार इन्धनहीन अग्नि के निर्वाण प्राप्त होने पर मनुष्यगण अपने अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न करके अपना अपना कार्य सिद्ध करते हैं उसी प्रकार देव और मनुष्य गण परिनिर्वाण प्राप्त तथागत के धातुरत्नो से स्तूपादि निर्माण करके शीलादि का अनुष्ठान करते हैं और सम्पत्ति त्रय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है, अवन्ध्य होती है।"[२]

उक्त समस्या के हल के लिए दूसरा दृष्टान्त 'वायु' का है। महान् वायु बह जाने के बाद जब उपरत उपशान्त हो जाती है, तो उसकी वायु-संज्ञा नहीं हो सकती है। तात-

---

१ देखिये, बा० आ० क०, पृ० २१८–२१९।

२ बा० आ० क०, पृ० २१९–२२०।

आसक्ति बनी रहती है तब तक तुम और मैं का भेद नहीं मिटता। कौल-मार्ग न प्रवृत्तियों के छिपाने को उचित समझता है, न उनसे डरने का ही समर्थन करता है और न उनसे लज्जित होने को ही युक्तियुक्त मानता है। गुरु की आज्ञा प्रधान होती है। साधना-चक्र में बैठना अनिवार्य है।

इस चक्र में सिद्ध के साथ प्राय साधक ही बैठते हैं। इसमें आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी की आराधना अभिप्रेत होती है। दोनों का सम्मिलित वाहन वृष माना जाता है। आनन्दभैरव के शरीर में कोटि-कोटि सूर्यों की और कोटि-कोटि चन्द्रमा से अधिक शीतलता की कल्पना की जाती है। वे अठारह हाथ वाले होते हैं। आनन्दभैरवी सुरा-देवी उनकी सहचरी हैं। आनन्दभैरव के समान इनके भी पाँच मुख, तीन नेत्र और अठारह भुजाएँ मानी जाती हैं। आनन्दभैरवी का वर्ण हिम, कुन्द और चन्द्र की भाँति धवल है। वे आनन्द की मूर्ति, मस्ती की प्रभव-भूमि, सौन्दर्य का विश्रान्ति-स्थल, आभा का आवास-गृह और यौवन का मूर्त विग्रह मानी जाती हैं।[१]

चक्र के केन्द्रस्थल में लाल कपड़े से ढँका हुआ कारण (मदिरा) से भरा पात्र और उसके ऊपर अष्टदल कमल के आकार का कोई पात्र रहता है। साधक लोग भैरव और सुरादेवी का ध्यान करते हैं और जप करते जाते हैं। सुरादेवी की प्रतिनिधि महा-माया कारण-घट से पात्र पूर्ण करती हुई अस्फुट ध्वनि में मंत्र पढ़ती जाती हैं। पात्र उठा-उठा कर देने से पूर्व वे सुधा-देवी का मंत्र पढ़ती हैं। फिर दोनों हाथों के सहयोग से कुछ विशेष मुद्राओं से पात्र को मुद्रांकित किया जाता है और फिर एकबार अपने चारों ओर चुटकी बजा कर कोई अनुष्ठान किया जाता है। संभवतः वह दिग्बन्धन की विधि होती है। जैसे ही गुरु पात्र को उठाता है, वैसे ही साधक भी अपने-अपने पात्र उठा लेते हैं। प्रथम पात्र की वन्दना-स्तुति यह मंत्र प्रस्तुत करता है।

> श्रीमद्भैरवशेखर प्रविलसच्चन्द्रामृताप्लावितम्
> क्षेत्राधीश्वरयोगिनीगणमहासिद्धैः समाराधितम् ॥
> आनन्दार्णवकं महात्मकमिदं साक्षात्त्रिखण्डामृतम्
> वन्दे श्रीप्रथमं कराम्बुजगतं पात्रं विशुद्धिप्रदम् ॥

(कौलावलिनिर्णय, अष्टम उल्लास)

गुरु अपनी शक्ति के अधरों से लगा कर सुरा पीते हैं। साधक भी वैसा ही करते हैं। सुरा-पान के समय साधक लोग दाहिने हाथ से कुछ विशेष प्रकार की मुद्राएँ धारते हैं। वे इस प्रकार से सात बार पान करते हैं और पान के साथ मुद्रा और जप चलते रहते हैं। चक्र-साधना के अन्त में शान्तिपाठ होता है। उस अवसर पर गुग्गुल-धूप से वातावरण को सुगन्धित किया जाता है। साधकों के मस्तकों पर सिन्दूर तिलक लगाया जाता

१. ब्रा० आ० क०, पृ० १०४-१०६।

है। इस अवसर पर प्रसाद वितरण किया जाता है जिसमें मधु, अदरक, भुना हुआ कन्द तथा अपराजित पुष्प के कुछ दल होते हैं। कौल-गुरु सिद्ध अवधूत भी कहलाते हैं।

इस मत में स्त्री-पुरुष की शक्ति मानी जाती है जिसके बिना साधना नहीं बन सकती। स्त्री में त्रिभुवनमोहिनी का वास होता है। वह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, किन्तु उसका विरोधी नहीं, पूरक है। पूरक अविरोधी हुआ करता है।

इस मत के अनुसार साधना की दो बातें प्रमुखतया अभिप्रेत होती हैं—कुण्डलिनी की जागृति तथा कौल-अवधूत का प्रसाद। मनुष्य-शरीर देवता का निवास है। नर-नारी का जो रूप साधक को मोह ले, वही उसका देवता है।

पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भाव-रूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त, पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वोन्मुखी, पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है।"[1]

स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती, पुरुष का उपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति है, उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।

पुरुष अपने को पुरुष और स्त्री अपने को स्त्री समझने की भूल कर सकती है, किन्तु कौल मत में यह भूल प्रमाद है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए वह स्त्री है। पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह बात का प्रतीति-पक्ष है, वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति नहीं है, प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटस्थ प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधि है। यह संभव है कि पुरुष में उसके ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक हो, किन्तु यह भी संभव है कि वह पुरुष तत्त्व किसी स्त्री के पुरुषत्व की अपेक्षा अधिक न हो। इससे स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक निःसंग, अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हो सकती है। ऐसी स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री की साधना किसी भी 'पुरुष' अभिव्यक्ति वाले मनुष्य के द्वारा से कदापि नहीं हो सकती। किन्तु पुरुष ऐसी स्त्री को उसकी अन्तःस्थिता प्रकृति के रूप में सार्थकता प्रदान करता है।

"परम शिव से दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के स्पन्द-विस्पन्द से यह संसार

---

१. दा० मा० क०, पृ० ११०।

आभासित हो रहा है। पिण्ड मे शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।"१

इस मास-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझना भूल है। यह जड मास-पिण्ड न नारी है, न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। + + + "जहाँ कही अपने आपको उत्सर्ग करने को, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहाँ कही दु ख-सुख की लाख-लाख धाराओ मे अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोडकर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही नारी-तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो, 'शक्ति-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोगने के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।"२

साधक को त्रिभुवनमोहिनी जिस रूप में मोह ले, वही उनका देवता है। उसे उसी रूप की पूजा करनी चाहिये।

"यह जो कुछ हो रहा है, त्रिपुर-भैरवी की ही लीला है। शूलपाणि की मुण्डमाल की रचना मे कोई भी बाधा नही डाल सकता। उसकी लीला को केवल वही मोड सकता है जिसने अपने को सम्पूर्णरूप में त्रिपुर-भैरवी के साथ एक कर दिया है। त्रिपुर-सुन्दरी को जो जितना दे देता है, उतना ही उसका अपना सत्य होता है।"३

बौद्ध और शैव साधना में योग का स्थान भी प्रमुख रहा है। इस रचना में लेखक योग की ओर संकेत करके रह गया है, सम्भवत इसलिए कि योग-निरूपण उसको अभिप्रेत नही था। चक्र-साधना मे पद्मासन की बात की गई है। एक स्थान पर प्राणों और नाडियोका उल्लेख हुआ है। योगके ग्रन्थो मे बहत्तर हजार नाडियाँ बताई गई हैं। सम्मोहन के संबंध से नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नामक पाँच प्राणों का उल्लेख किया गया है। संभवत शेष पच प्राणो मे सम्मोहन का संबंध दिखलाना लेखक को इष्ट नही है।

जिस प्रकार सम्मोहन का संबंध पच प्राणो से जोड़ा गया है, उसी प्रकार बहत्तर हजार नाडियो मे से केवल पाँच का सबंध मन से जोडा गया है। कल्पिका से संकल्प, और विकल्पिका से अनेक विकल्प होते हैं। स्थौवा से जडता आती है, मूर्च्छना से मूर्च्छा आती है और मन्या से मन शक्ति प्राप्त होती है।

बौद्ध और शैव-साधना के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भक्ति-साधना का भी उल्लेख है। लेखक ने जो रुचि भक्ति की ओर दिखाई है, वह इतर साधनाओ की ओर नहीं है। बौद्ध दर्शन अपनी स्थापनाओ मे विलक्षण है, कौल मार्ग की साधना विलक्षण है, किन्तु भक्ति का द्रावक प्रभाव सबसे अधिक विलक्षण है। लेखक ने आत्मकथा में जिस प्रकार भक्ति

---

१. बा० भा० क०, पृ० १६३।

२. वही, पृ० १६४।

३. वही, पृ० २०१।

का परिचय दिया है उनसे भक्ति के विकास पर भी प्रकाश पड़ जाता है। बाणभट्ट के प्रति वृद्ध की यह वाणी भक्ति के विकास का, अति संक्षेप में ही सही, सामने ला देती है—

"ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में सौगत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से, न जाने क्या बात हुई कि ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं। शुरू-शुरू में कुछ वयस्क-मदमाता स्त्रियों ने ही इनसे दीक्षा ली थी। एक छोटे अन्तःपुर की परिचारिका निउनिया थी, उन्होंने इनसे प्रथम दीक्षा ली थी। वह तुरन्त कहीं अन्तर्धान हो गई। दूसरी चेरी उसी की एक सखी सुचरिता हुई। इसी गली में वह गाने में प्रसिद्ध थी। वह इस समय नगर की प्रधान भक्तिमती मानी जाने लगी है। अब तो यह हालत है कि संध्या हुई नहीं कि नगर का अन्तःपुर निःशेष भाव से उलट कर इस आयोजन में शामिल हो जाता है। वाद्य और करताल के साथ मदकक चाट उन्माद का वातावरण पैदा करता है और उसमें सुचरिता के गान मोहिनी मंत्र की तरह सबको मंत्रमुग्ध बना देते हैं। वेंकटेश भट्ट जब आवेश में नाच उठते हैं, तो ऐसा लगता है कि भूतों का राजा आसव पीकर प्रमत्त हो गया है। यह विचित्र धर्म है।"[१]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ७वीं शती में कुछ लोग सौगत-तंत्र को छोड़ने लगे थे। संभवतः बौद्ध धर्म की बढ़ती हुई विकृतियों से कुछ लोगों की रुचि समाप्त हो गई थी। सातवीं शती में भक्ति की उत्क्रांति हुई और पहले-पहल स्त्रियाँ और कुछ स्त्रियाँ आकृष्ट हुईं। धीरे-धीरे भक्ति-भावना स्त्रियों के हृदय में अपना घर करती गई। भक्ति में गीत, संगीत और नृत्य को प्रश्रय मिलने से सामान्य आकर्षण की गुंजाइश अधिक हो गई। प्रारम्भ में भक्ति पुरुषों को, विशेषतः उच्चवर्ग के पुरुषों को, मुग्ध न कर सकी।

बाणभट्ट ने मंडपस्थ वेदिका का जो वर्णन किया है, वह भी भागवत धर्म के विकास की—एक अद्भुत मिश्रण की—सूचना देता है। आचार्य वेंकटेश भट्ट एक चन्दन काष्ठ के आसन पर पद्मासन बाँध कर बैठे थे। उनके मुख से एक प्रकार का आनन्द-गद्‌गद भाव प्रकट हो रहा था, आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। XX भाव और तन्दुल से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण चक्र ठीक उसी प्रकार अङ्कित था, जिस प्रकार शाक्त तान्त्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देख कर मैं और भी आश्चर्य चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिवतत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्तितत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इसका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता, क्योंकि पद्म के साथ चक्र होना चाहिये। ऐसा होता, तो सौगत तंत्र ही इसे मान लेते; परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना नहीं रह सकता, परन्तु

१, बा० आ० क०, पृ० २२८।

कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्य आचारो मे तो तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं सहन किया जाता, पर धार्मिक अनुष्ठान मे प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। ××× "मैंने और भी ध्यान से चक्र को देखा, केन्द्र मे जहाँ पद्म था, उसके चारो ओर सिन्दूर से एक गोल चक्र अङ्कित था। इस साधना का वज्र यही था क्या ? पद्म के ऊपर ताँबे का घट स्थापित था। घट व ऊपर आम के पल्लव थे और उनके भी ऊपर एक ताम्र-पात्र मे जौ भरा हुआ था। अभी दीप-स्थापन की क्रिया चल रही थी। आचार्य की दाहिनी ओर एक वृद्ध पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और एक युवती स्त्री उनकी बताई हुई विधि से क्रिया कर रही थी।" ××× "फिर पुरोहित के दीप-दान-कालीन सकल्प-वाक्य से मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ।" ××× "भक्ति-भाव से जानुओ के बल खडी हुई। गुरु की पूजा ही उसकी क्रिया का प्रधान अङ्ग जान पडता था।"[१]

इससे प्रकट हो जाता है कि भक्ति के अनुष्ठान मे नये उपादान मिश्रित हो गये थे। भागवत सम्प्रदाय सौगतो और शाक्तो की कुछ धार्मिक प्रक्रियाओ से भी प्रभावित हो चला था। भक्ति मे गुरु की पूजा प्रमुख थी। आरती का प्रचलन हो गया था। स्वय बाणभट्ट के मुख से लेखक ने कहलवाया है कि—"धर्म-चर्चा का यह अभिनव आयोजन था। यह एकदम नई वस्तु थी। सगीत और वाद्य का ऐसा मधुर मिश्रण मैंने कभी नही देखा था।"[२] इतर आयोजना मे स्त्रियो को शख बजाने नही देखा जाता था, किन्तु इस भजन-साधन मे स्त्रियाँ शख बजाती थी। गुरु नाम-कीर्तन करते-कराते थे और फिर वे नारायण-नारायण आदि कह कर नाच उठते थे।

भक्ति के लिए आलंबन के दो रूप ही चुने गये दिखलाये गये हैं—महावराह की मूर्ति और क्षीर-सागरशायी नारायण की मूर्ति। महावराह की मूर्ति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—"महावराह की भावपूर्ण मूर्ति पुष्पमाल्य से विभूषित विराज रही थी। महावराह का विशाल दष्ट्रा आकाश की ओर इस प्रकार उठा हुआ था, मानो अभी वेग-पूर्वक समुद्र से बाहर उठा है, उस पर धरित्री की भीति-चकित मूर्ति बहुत ही मनोहारिणी दिख रही थी। महावराह की आँखें ठीक प्रस्फुटित पद्म के समान दिख रही थी और सारा शरीर उत्पलपत्र के समान घनचिक्कन नीलवर्ण का दिख रहा था।"[३]

क्षीर-सागरशायी नारायण की मूर्ति के साथ विष्णु भगवान् का गोपाल वासुदेव वाला रूप भी मूर्ति-पूजा मे प्रचलित हो गया था। यह मूर्ति शृंगार-रस की व्यंजक थी, उसका वर्णन बाण के मुख से इस प्रकार कराया गया है—

"विद्युल्लतिका के आधार पर त्रिभगी-मूर्ति एक ही पत्थर को काट कर बनाई गई थी। विष्णुमूर्ति का यह बिल्कुल नवीन विधान था, क्योंकि त्रिभगी रूप शृंगार-रस का व्यंजक है। अब तक मैंने इस प्रकार बनी विष्णुमूर्ति नही देखी थी। वासुदेव के गले

१ बा० आ० क०, पृ० २२९-३१।
२ वही, पृ० २३३
३ वही, पृ० ३८

में कोई माला-सी दिख रही थी। सामने एक अष्टदल पद्म के भीतर इसी प्रकार ऊर्ध्व-मुख और अधोमुख त्रिकोण अङ्कित थे, जिस प्रकार सायंकाल की उपासना के समय कलश स्थापन के लिए अङ्कित मंत्र में मैंने देखा था। पद्म के भीतर वज्र था और बाहर चतुर्द्वार। अङ्कन की भंगी बड़ी मनोहर थी। मैंने जरा और निकट जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। इस मंत्र के भीतर नाना-रूप-बीजों के विन्यास के बाद काम-गायत्री लिखी हुई थी। एक बार मैं उस वासुदेव की ओर देखता था और एक बार इस गायत्री की ओर। यह कैसा विचित्र मिश्रण है। क्या यह कामर्मूर्ति है?—यह तो हो ही नहीं सकता। मैं क्या देख रहा हूँ—विष्णु-मूर्ति और काम-गायत्री।"[1]

जिस प्रकार भागवत धर्म में एक विलक्षण विकास हो रहा था, वह अनुष्ठान के सम्बन्ध में देखा जा चुका है। इस समय गीता के सिद्धान्तों के प्रश्रय में कुछ भक्ति-सिद्धान्त भी विकसित हो रहे थे। संक्षेप में वे ये थे—

"शरीर नरक का साधन है, यह कहना प्रमाद है। यही वैकुण्ठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्दलीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन मण्डल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और क्या प्रयोजन हो सकता है?" "नारायण मनुष्य से बाहर नहीं हैं, मनुष्य प्रसन्न हैं तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। मनुष्य नारायण का ही रूप है। पापिष्ठ मन मनुष्य को नारायण रूप में नहीं देख सकता। जो कर सकते हैं वह नारायण ही कर सकते हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है। इस जीवन की नौका के कर्णधार नारायण ही हैं। मन में किसी बात का सोच नहीं करना चाहिये, वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है। सब हानि-लाभ, सुख-दुःख नारायण के ऊपर छोड़ देना चाहिये" "दुःख या सुख जो कुछ मिले उससे नारायण की पूजा उसी से करनी चाहिये।"[2] "वस्तुतः कन्दर्प भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। दबाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण जब तक निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिये जाते, तब तक वे भारमात्र हैं।"

काम को लोग गलत समझ लेते हैं। अपने उदात्त रूप में प्रेम और काम अभिन्न हैं "ब्रज-सुन्दरियों ने निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रह-माधुरी के प्रति जो आकर्षण दिखाया, वह क्या प्रेम नहीं था? ब्रज-सुन्दरियों का प्रेम ही काम है और काम ही प्रेम है।"—

"प्रेमैव ब्रजरामाना काम इत्यभिधीयते"

(भक्तिरसामृतसिन्धु×)

नारायण का प्रसाद समझकर सारे क्लेशों को आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लेना भक्ति का ही एक अङ्ग है।

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २३७-३८

२. वही, पृ०, २८१।

×बाणभट्ट की आत्मकथा लेखक द्वारा उद्धृत, देखिये, पृ० २७३ (प्रथम संस्करण)

३. वही, पृ०, २८३

१४. नारी-विषयक कुछ समस्याएँ

वर्तमान समाज मे अन्य समस्याओ की भाँति नारी भी एक समस्या है। भारत वह देश है जहाँ कभी नारी का बडा सम्मान था। आज उसी देश मे नारी की बडी दुर्दशा है। जबकि अनेक देशो मे नारी-समाज प्रगति कर रहा है, यहाँ वह अपनी समस्याओ मे उलझा बैठा है। प्रगतिशील मनीषियो न कुछ समय से समाज की पिछडी दशा को देखकर उद्बोधन की फूँक से क्रान्ति की चिनगारी को सुलगाना प्रारम्भ किया है। सामान्यत ये प्रयत्न पचास साठ वर्ष से किये जा रहे है किन्तु गत बीस वर्ष से क्रान्ति ने कुछ दृढ रूप धारण कर लिया है। पुरुष और नारी के सबधो पर प्रकाश डालकर नारी के स्थान को दिखाया जा रहा है। अधिकार और कर्तव्य, दोनो उसके सामने लाये जा रहे हैं। यह सभव है कि आज की नारी गृहिणी के रूप से आगे बढ़-कर अपने रण-चण्डी के रूप को देखकर आश्चर्य करने लगे और वह शायद अपने इस रूप मे विश्वास भी न करे, किन्तु झाँसी की रानी जैसी वीरागनाओ ने अपने इस रूप को प्रमाणित कर दिया है।

यो तो प्राचीन भारतीय साहित्य मे नारी की विवेचना ने एक दार्शनिक रूप धारण कर लिया था, किन्तु मध्यकाल मे आते-आते नारी का व्यावहारिक गौरव क्षीण हो गया और नारी पुरुष की इच्छा का दास बन गयी। वैराग्य की सीमाओ मे उस पर, न जाने, कितनी कीचड उछाली गयी और उसको समाज का एक गर्हित प्राणी बना दिया गया। सामाजिक रूढ़ियो ने उसको अपने कठोर शिकजे मे कस कर 'अबला' बना दिया और फिर वह भी मुँह ताकती रह गयी। कुछ समझदारो ने उसकी दुर्दशा को देखा, उनका हृदय द्रवित हुआ और उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए एक आवाज उठाई। ऐसी ही आवाज 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे सुनायी पड सकती है।

उक्त कथा के लेखक ने नारी के संबध मे बडे कौशल से एक दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की है, जिसमे सामाजिक दृष्टिकोण का भी समावेश है। नारी क्या है? वह कितनी पवित्र है। उसमे कितनी शक्ति और सौन्दर्य है? उसका सम्मान कितना सुखद और उपेक्षा कितनी घातक है? इस प्रकार के अनेक प्रश्नो के उत्तर इस कृति मे समाविष्ट किये गये हैं। लेखक ने 'नारी क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर तात्त्विक विवेचना के साथ दिया है।

नारी क्या है?

परम शिव से दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थे—"शिव और शक्ति। शिव

विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के स्पन्द-विस्पन्द से यह संसार आन्दोलित हो रहा है। पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है।" इस मांस-पिंड को—इस जड़ शरीर को पुरुष या नारी समझना भूल है। "निषेधरूप तत्त्व नारी है। जहां कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहां कहीं दुःख-सुख की लाख लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है, या शास्त्रीय भाषा में इसी को शक्ति-तत्त्व कहते हैं।"

नारी का प्रयोजन

नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है। आज के धर्म-कर्म के आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य-विस्तार विधि-रूप हैं। इनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है, इसीलिए वे एक कगार पर ढह जाते हैं, भित्त पर टिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भांति क्षणिक हैं। वे सैकत-सेतु की भांति अस्थिर हैं। वे जलरेखा की भांति नश्वर हैं। इनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। इन्हें जब तक पुत्रहीन दिवस और नैद्राहीन रात्रियां अलंकृत नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान इन्हें कुरेद नहीं देता, तब तक इनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी की पावनता

स्त्री-शरीर एक देव-मंदिर के समान पवित्र है। इसे किसी अज्ञात देवता का मंदिर समझना चाहिये। एक समय आर्यावर्त्त में नारी का बड़ा गौरव था। ब्राह्मण और श्रमण की भांति नारी भी सम्मान की वस्तु थी। आर्य-भूमि की पवित्रता के अनेक कारणों में नारी की पवित्रता प्रमुख थी। इस पवित्रता का एक रूप नारी-सौन्दर्य भी था। जब तक इस सौन्दर्य का सम्मान रहा, भारतीय गौरव प्रतिष्ठित रहा, किन्तु इस देव-प्रतिमा के अपमानित होते ही भारत की शक्ति-समरता खंडित हो गयी।

सामाजिक रूढ़ियां नारी-सौन्दर्य की पवित्रता को अपनी तुला से तोलकर केवल अपमानित कर सकती हैं, सौन्दर्य के देवता की प्रतिष्ठा घटा सकती हैं, किन्तु इसे मिटा नहीं सकती हैं क्योंकि वह मिटने वाली चीज नहीं है। जो इस देवता को समझते हैं, वे आदर करते हैं और जो नहीं समझते वे अपने कलुष से इसे कलुषित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह कालुष्य उन्हीं का अपमान है।

बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि यह लोक प्रस्तर-प्रतिमा की पूजा करता है और हाड़-मांस की पवित्र देव-प्रतिमाओं को ठुकराता है। यदि पुरुष ने इस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने आपको निःशेष भाव से उंडेल दिया होता तो उसका जीवन सार्थक होता। संसार की इस भूल को वात्स्यायन ने पकड़ लिया है। इसीलिए वह कहता

है—"हाय, संसार ने इस हाड-मांस के देव-मंदिर की पूजा नहीं की। वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। उसे अपने परम आराध्य का पता नहीं लगा। लेकिन इन सब बातों में क्या रखा है? मैं बहुत देख चुका हूँ। शोभा और कान्ति को विभ्रम और विच्छिति पर बिकते देखकर मैं जिस दिन प्रथम बार विचलित हुआ था, उस दिन की बात याद आती है, तो, मेरी सम्पूर्ण सत्ता विद्रोह कर उठती है। माधुर्य और लावण्य की अपेक्षा हेला और विलोक का सम्मान दैनन्दिन घटना है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपातत: परस्पर-विरोधी दिखने वाले आचरणों में एक सामरस्य है—निरंतर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है।"

क्या पावन नारी अपावन हो सकती है ?

पावन नारी अपवित्र नहीं की जा सकती। "पावक को कभी कलंक स्पर्श नहीं करता, दीप-शिखा को अंधकार की कालिमा नहीं लगती, चन्द्रमण्डल को आकाश की नीलिमा कलंकित नहीं करती और जाह्नवी की वारिधारा को धरती का कलुष भी स्पर्श नहीं करता।" "स्यारों के स्पर्श से सिंह-किशोरी कलुषित नहीं होती। असुरों के गृह में जाने से लक्ष्मी धर्षिता नहीं होती। चीटियों के स्पर्श से कामधेनु अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनों के बीच वास करने से सरस्वती कलंकित नहीं होती।" हमारे समाज में आलोचना की आँधियाँ चलती हैं, जिनसे पावन नारी का मार्ग अवश्य रुक जाता है, किन्तु उसकी पावनता निष्कलुष ही रहती है।

नारी सम्माननीय तथा रक्षणीय है

नारी शक्ति की प्रतीक और उसका शरीर देव-मन्दिर है। साधारणत: जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है। इस रहस्य को बाणभट्ट समझता है। वह उस स्थान को नरक-कुण्ड समझता है जहां मद्य और द्यूत की लीलाओं के साथ नारी के क्रय-विक्रय का कारबार भी होता है। ऐसे दृश्यों से नारी की रक्षा समाज का परम धर्म है। "नारी जहाँ भी हो और जिस अवस्था में भी हो, सम्मान और श्रद्धा की वस्तु है।"

एक सामान्य अपमानित नारी के उस दुःख की कल्पना कीजिये जब कि वह समाज की कुत्सित रुचि पर अपने को तिल-तिल कर होमती है। स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है। जो स्त्री आजीवन दुःख की विदारण भट्टी में निरन्तर जलती रहती है, क्या उसका स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ है? वस्तुतः दोष उस वस्तु में है, जो नारी के सारे सद्गुणों को दुर्गुण कहकर व्याख्या करा देती है। क्या यह एक बड़ा असत्य नहीं है जो सत्य के नाम पर समाज

में घर बना बैठा है ? उसी ने अनेक सामाजिक कुप्रथाओं का रूप धारण कर लिया है। स्त्रियाँ सदैव सम्मान के योग्य हैं। उनके सम्मान की रक्षा प्राण-पण से करनी चाहिये। इसीलिए मैथिलियों के गान में यह ध्वनि सुनायी पड़ती है—"अमृत के पुत्रो, प्राण-पण की आहुति दना। माताओं के लिए, बहनों के लिए, कुल-ललनाओं के लिए प्राण देना सीखो।"

स्त्रियों का सम्मान करना ही नहीं, कराना भी चाहिये और इस काम को प्रतिभावान् मनुष्य बड़ी आसानी से कर सकते हैं। भट्टिनी के शब्दों में यही आशय ध्वनित हो रहा है—"तुम्हारी प्रतिभा हिमनिर्झरिणी की भाँति शीतल और धवल है, तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। × × तुम निर्दय व्यक्ति के चित्त में समवेदना का संचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना सिखा सकते हो।"

महापुरुष का यह कर्तव्य है कि अबला कहलाने वाली नारी का उद्धार करे और यह कर्तव्य पुरुष की वाणी से बड़ी सरलता से सम्पन्न हो सकता है। इसी आशय को भट्टिनी भट्ट से कहती हुई इस प्रकार व्यक्त करती है—"तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अबलाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएँ भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।"

क्या नारी उपेक्षणीय है ?

नारी की उपेक्षा की जाती है, उसे ठुकराया जाता है। क्यों ? इसीलिए न कि यहाँ पौरुष-दर्प का प्राचुर्य है। जब तक पुरुष अपने आपको ही सब-कुछ समझता रहेगा तब तक उसकी दृष्टि में नारी का गौरव नहीं बन सकता। दर्प का कारण भौतिक शक्ति का अति महत्त्व है। इस शक्ति के प्रधान रहते हुए दर्प का बहिष्कार नहीं हो सकता। दर्प उस समय तक रहेगा जब तक कि नारी के प्रति सम-भाव न आजायेगा। इसका संकेत महामाया के तीव्र स्वर में दीख पड़ता है—"क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी सन्तान नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की बड़ी दुर्घटनाएँ हैं ?"

ममता, वात्सल्य, करुणा और समर्पण की मूर्ति नारी भूमि पर साक्षात् देवता है। उसके साथ इस प्रकार का आचरण होना चाहिये कि वह यह अनुभव न करे कि उसका जीवन केवल भार है, उसका शरीर केवल मिट्टी का ढेला है और विधाता ने उसे केवल दंड देने के लिए बनाया है, वरन् वह नारी के रूप में विधाता का उपकार माने और अपने को धन्य समझे।

सच तो यह है कि पुरुष की भावना विशुद्ध नारी के सहयोग के बिना अधूरी ही रहती है और नारी की बलिदान की भावना भी पुरुष के अवलम्ब के बिना अधूरी रहती है। बाणभट्ट के शब्दों में 'अनुभववाद की साधना इसलिए अधूरी है कि उन्हें

विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला और निपुणिका की बलिदानाकांक्षा इसलिए अपूर्ण है कि उसे पुरुष का करावलंब नहीं मिला।' बाण ने इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लिया है कि नारी से बढ़कर और कोई अनमोल रत्न नहीं है, पर उससे अधिक दुर्दशा भी और किसी की नहीं हो रही है।

नारी शक्ति है

नारी नाना रूपों में पुरुष को मोहती है। त्रिभुवन का पुरुष तत्त्व उसी के रूपों पर मुग्ध है। अतएव शाक्त तंत्रों में वह त्रिभुवन मोहिनी नाम से भी अभिहित होती है। 'पुरुष वस्तु निरपेक्ष (मुक्त) भाव-रूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है और स्त्री वस्तु-युक्त रूप में रम पाती है। पुरुष अनासक्त है, स्त्री आसक्त, पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वमयी, पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री, स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है।' स्त्री की पूर्णतया के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्त्री ऐसा मानती है तो उपकार के स्थान पर वह अपना अपकार ही कर सकती है।

राज्य-गठन, सैन्य संचालन, मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की ममताहीन, मर्यादाहीन, शृङ्खलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियंत्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गये हैं, मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भांति क्षणभर में विलुप्त हो गये हैं। भुवनमोहिनी के इस गौरव को कालिदास जैसे कुछ ही मनीषियों ने हृदयंगम और प्रकाशित किया है। महासत्य का साक्षात्कार करके उसे प्रकाशित करना प्रतिभा का वरदान मात्र है।

स्त्री और प्रकृति

स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरुष को बांधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक होती है, इसलिए वह स्त्री है, और पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह बात लोक बुद्धि प्रसूत है, लोक के समझने-समझाने के लिए है, वास्तव सत्य नहीं है। अतएव पुरुष को पुरुष और स्त्री को स्त्री समझ कर भूल हो सकती है। इस रहस्य का उद्घाटन महामाया ने बाणभट्ट के सामने इस प्रकार किया है—"तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मुझे स्त्री? यही प्रमाद है। मुझमें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुममें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति-प्रज्ञा है, वास्तव सत्य नहीं।" इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक स्त्री प्रकृति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। यदि महामाया जैसी स्त्री में प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटस्थ प्रति-

निहित है तो ठीक वैसे पुरुष में प्रकृति का दुरूप्य प्रतिनिहित्व है। इसीलिए महामाया कहती है—"यद्यपि तुम्हें मेरे ही भीतर के प्रकृति-तत्व की अपेक्षा पुरुष-तत्व अधिक है पर वह पुरुष तत्व मेरे भीतर के पुरुष-तत्व की अपेक्षा अधिक नहीं है। मैं तुमसे अधिक नि:संग, अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हूं।"

स्त्री और पुरुष में निहित 'प्रकृति' की अभिभूति 'पुरुष' से होती है। इसीलिए महामाया कहती है—"मैं अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्व से अभिभूत नहीं कर सकती। इसीलिए मुझे अघोर भैरव की आवश्यकता है। जो कोई भी "पुरुष"—प्रकृति वाला मनुष्य मेरे विकास का साधन नहीं हो सकता।"

क्या स्त्री विघ्नरूपा है?

नारी का जन्म विघ्न के लिए ही हुआ है। पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रम नारी की एक वंकिम दृष्टि में बह जाते हैं। नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। नारी के सहयोग के बिना संसार के अनेक विशाल आयोजन असफल एवं ध्वस्त हो जाते हैं और सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा कर सकता है।

नारी को पिण्ड रूप में कोई विघ्न न समझ लेना चाहिये। पिण्ड नारी कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्त्वपूर्ण वस्तु तो नारी-तत्व है। भट्टिनी के इस प्रश्न के उत्तर में—"तो क्या माता, क्या स्त्रियां सेना में भरती होने लगें या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशान्ति दूर हो जायगी?" महामाया का यह उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है—"अरला तू, मैं दूसरी बात कह रही थी। मैं पिण्ड नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानती। तुम्हारे इस भट्ट ने भी मुझसे पहली बार इसी प्रकार का प्रश्न किया था। मैं नारी-तत्व की बात कह रही हूं रे! सेना में अगर पिण्ड नारियों का दल भरती हो भी जाय, तो भी जब तक उसमें नारी तत्व की प्रधानता नहीं होगी तब तक अशान्ति बनी रहेगी।"

अपने पिण्डरूप में भी नारी की शक्ति के दो क्षेत्र हैं—एक में वह बन्धन करती है और दूसरे में पुरुष को मुक्त करती है। पुरुष को बांधने में उसकी सफलता है और मुक्त करने में सार्थकता। तपस्वी के इन शब्दों में नारी की सार्थकता का संकेत मिल जाता है—"मैं माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूं!" क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुंचाने को तैयार हो!" सुचरिता की वाणी भी इसी का प्रमाण दे रही है—"मैं नारायण पर उत्सृष्ट पुष्प-वृन्त के समान गन्धहीन होकर भी सार्थक ही हूं।"

नारी सौंदर्य की महिमा

नारी-सौन्दर्य वर्णनीय नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते रहे हैं। आर्य-भूमि में नारी के वास्तविक सौन्दर्य की पूजा होती रही है। "स्त्रियां ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियां तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी

होती हैं; किन्तु स्त्री का अङ्ग-संग पाये बिना रत्न किसी का मन हरण नहीं करते।" बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने यही कहा है—

"रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसगात्॥"

आज यदि आचार्य वराहमिहिर यहाँ उपस्थित होते तो और भी आगे बढ़कर कहते—"धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शान्ति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते—नारी-देह वह स्पर्श-मणि है, जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।"

नारी का एक भेद, गणिका

आज हमारे यहाँ गणिका की स्थिति बड़ी शोच्य है। समाज उसके कलावतित्व को भूलकर उसे हीन या कुत्सित नारी मान बैठा है। बाणभट्ट के सामने गणिका का प्रश्न एक जटिल समस्या है। "गणिका नगर का शृंगार होती है या नगर का अङ्गार। *वह क्या एक ही साथ अमृत और विष का मिश्रण है? शूद्रक ने वसन्तसेना को पद्म*-हीन लक्ष्मी, अनंगदेवता का ललित अस्त्र, कुल-वधुओं का शोक और मदनवृक्ष का पुष्प कहा था। भाग्य का कैसा दुर्ललित परिहास है। जो लक्ष्मी है वही शोक भी है, जो फूल है वही मारणास्त्र भी है।"

नारी के अनेक स्तर

हमारे समाज में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वार-*वनिता तक के सैकड़ो स्तर हैं, यह बड़े खेद की बात है। बाणभट्ट स्वयं की कल्पना उसी* समाज में करता है जिसमें ये स्तर नहीं हैं। "यह जो दु:खताप है, निर्यातन है, धर्षण है, परदाराभिमर्श है, ये विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।"

निष्कर्ष यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में विविध पहलुओं के आग्रह से 'नारी' ने एक समस्या का रूप धारण किया है। क्या उसकी कोई सत्ता नहीं है? उसकी उपेक्षा क्यों की जाती है? क्या उसकी शक्ति का समुचित मूल्यांकन किया जाता है? क्या *उसकी भुवनमोहिनी अभिधा निष्फल और व्यर्थ है? क्या नारी को अनेक स्तरों पर रख*-कर देखना उचित होगा? क्या उसके सौन्दर्य की पावनता का अपमान नहीं किया जा रहा है? आदि आदि प्रश्न आत्मकथा के प्राण हैं। इन सबका उत्तर बाणभट्ट की एक इस मान्यता में मिल जाता है—"नारी-देह देव-मन्दिर के समान पवित्र है और नारी *संसार की सब से बहुमूल्य वस्तु है। उसका अपमानित होना लज्जाजनक एवं असह्य है।"*

१५. प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन

'आत्मकथा' के स्त्री और पुरुष पात्रों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष और सामान्य के नाम से पात्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। विशेष वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—(क) राजा, राजपुरुष तथा सामंत, (ख) सिद्ध, साधक, एवं साधिकाएं—गुरु–शिष्य, (ग) गणिका एवं नर्तकियां। इन वर्गों और उपवर्गों से बचे हुए पात्र सामान्य वर्ग में रखे जा सकते हैं। वर्गों से परिचित होने हो 'आत्मकथा' का एक ऐसा चित्र पाठक की दृष्टि में भर जाता है जिसमें वर्गगत पात्र अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर तीन प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं—(१) वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएं देते हुए हैं, (२) वे पात्र जो उस चित्र में वर्ण का काम करते हैं, तथा (३) वे पात्र जो कथा-चित्र की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में योग देते हैं। पात्रों के महत्त्व को आंकने की दृष्टि से यह वर्गीकरण अधिक ग्राह्य है।

वैसे तो कथा की सृष्टि में दीदी के महत्त्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। महत्त्व की दृष्टि से दीदी के संबंध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है, किन्तु वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएं देते हुए हैं कथा के तात्त्विक उपकरणों में विशेष महत्त्व रखते हैं और वे तीन ही हैं—बाण, निपुणिका तथा भट्टिनी। बाण ऐतिहासिक पात्र है, किन्तु उसका 'वर्ण' काल्पनिक है। निपुणिका और भट्टिनी की सृष्टि कल्पना से हुई है। बाण के काल्पनिक वर्णाभिव्यंजन में भी इन दोनों का बहुत बड़ा योग है।

पाठक के समक्ष सामान्यतया बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, हर्षवर्धन, कृष्णवर्धन, बौद्धाचार्य, तांत्रिक, अघोरभैरव, महामाया, लोरिकदेव, बौद्धभिक्षु, राज्यश्री आदि पात्र ही अपने महत्त्वपूर्ण आवरण में प्रकट होते हैं, किन्तु आलोचक की दृष्टि में उक्त तीन पात्र ही तात्त्विक मीमांसा के प्रमुख उपादान का रूप धारण करते हैं।

बाण पर लेखक की उदारता और कृपा की प्रभूत वृष्टि हुई है। वैसे तो लेखक की कृपा का पात्र बहुधा प्रमुख पात्र ही होता है, किन्तु डा० द्विवेदी की सहृदयता बाण पर बरस उठी है। वे बाण के चरित्र को गरिमा प्रदान करके बाण को ऊँचा उठाने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

बाण का वास्तविक नाम दक्ष था, किन्तु प्रसिद्ध वात्स्यायन वंशीय जयन्त भट्ट का पौत्र वह बालक जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़ था। अपने गाँव से निकल भागते समय वह अपने साथ गाँव के और भी छोकरों को भगा लेगया।

वे सब उसके साथ न रह सके, तो भी वह गाँव मे बदनाम तो हो ही गया। मगध की बोली मे 'बण्ड' पूछकटे बैल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'बण्ड आप गये सो गये, साथ मे नौ हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग उसे (बाण को) 'बण्ड' कहने लगे। इसी शब्द को सुधार कर (तत्समरूप मे परिणित करके) उसने इसे अपनी अभिधा बना लिया।

छोटी ही आयु मे बाण की माँ का निधन होगया, चौदह वर्ष की आयु मे वह पिता चित्रभानु के स्नेह से भी वंचित होगया। वास्तव मे आवारापन के बीज तो बाण मे माँ की मृत्यु के उपरान्त ही जम गये थ। पिता के बाद बडे चचेरे भाई उडुपतिभट्ट के अगाध स्नेह मे निमग्न रहने से उसके आवारापन मे सुधार न हुआ। आवारा बाण नगर-नगर, जनपद-जनपद मारा-मारा फिरता रहा। नटकर्म, कठपुतलिया के खेल, नाट्याभिनय, पुराण-वाचन आदि अनेक व्यवसायो से सबद्ध होकर भी उसकी रुचि कही रम न सकी। फिर भी उसके प्रत्येक कर्म से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका प्रमुख कारण उसका रूप-लावण्य और वाक्पटुत्व था। उसकी किशोरावस्था और युवावस्था मे उसके इन दो गुणो ने उसकी बडी सहायता की, किन्तु उसके बहुविध कार्य-कलाप को देखकर लोग उसे 'भुजग' समझने थे।

वह स्नान करके शुक्ल पुष्पो की माला धारण करता था, आगुल्फ शुभ्र धौत उत्तरीय धारण करता था--यही उसका प्रिय वेश था। भगवान् त्र्यम्बक का उपासक बाण बडा साहसी व्यक्ति था और किसी भी काम मे बडे उत्साह से जुट जाता था। उत्साह आदि गुणो के होते हुए भी बाण किसी काम को योजना बनाकर नही करता था, इसीलिए वह अपनी किसी पुस्तक को समाप्त नही कर पाया। वह कभी किसी बधन मे नही बँधा और न बंधन उसे रोचक ही प्रतीत होता था। भट्टिनी की रक्षा का भार लेकर अवश्य ही बाण को एक बधन की प्रतीति हुई थी, किन्तु सेवाभाव ने उसे भट्टिनी के प्रति जो प्रेम अर्पित कर दिया था, उससे वह बधन उसकी प्रवृत्ति को आकुंचित नही करता था।

बाण मूलत कवि था, अतएव उसको भावो की प्रचुर निधि और सौंदर्यबोध की अटूट क्षमता स्वत ही प्राप्त थी। सुन्दर क्या है ? इसे वह अवसर और परिस्थितियो से आँकता था। निपुणिका की अ गुलियो के मूल्याकन मे उसकी इस बोध शक्ति को देखिये—

"निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नही थी। उसका रग अवश्य शेफालिका के कुसुमनाल के रग से मिलता था, परन्तु उसकी सबसे बडी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और अँगुलियाँ ही थी। अँगुलियो को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। नटीकी प्रणामाञ्जलि और पताक-मुद्राओ को सफल बनाने मे पतली छरहरी अ गुलियाँ अद्भुत प्रभाव डालती हैं।"

भट्ट की कवित्व-शक्ति से उनके साथ रहने वाले परिचित हैं। उनकी वाणी से उनके कवित्व का परिचय मिल जाता है। निपुणिका ऐसे ही शब्दों को पहचान कर कहती है—"भट्ट! XX कविता छोड़ो।" भट्टिनी भी भट्ट की कवित्वशक्ति से परिचित और विश्वस्त है। उनके शब्दों में इसका परिचय यह है—

"निउनिया XXX भट्ट पर मेरा पूर्ण विश्वास है। कवित्व की शक्ति तू नहीं जानती। भट्ट कवि है।" "कौन कहता है, भट्ट, कि तुम कवि नहीं हो? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। XXX तुम्हारे चारित्र्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से विमल धारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? XXX भट्ट, कविता श्लोक को नहीं कहते। कविता का प्राण है रस, विशुद्ध सात्विक रस। तुम सच्चे कवि हो। मेरी बात गाँठ बाँध लो, तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो।" एकबार नहीं भट्टिनी ने अपनी इस धारणा को दूसरे स्थान पर भी दुहराया है—"तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो, तुम्हारे मुख से निर्मल वाग्धारा झरती रहती है, तुम्हारा अन्तःकरण पर-कल्याण-कामना से परिशुद्ध है XXX तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है।"

बाण का भावुक हृदय संकट के समय अपने आस्तिक्यपूर्ण मन से शक्ति संचित करता है। उसे ईश्वर की शक्ति में पूर्ण विश्वास है और यह विश्वास उसके विकीर्ण साहस को सकलित कर देता है। गंगा में नौका पर आक्रमण होने के समय उसके आस्तिक हृदय की उत्साह-स्फूर्ति देखने योग्य है—

"मेरे मन में कहीं भी कोई आशा नहीं थी, पर फिर भी महावराह के स्मरण से मैं थोड़ा आश्वस्त हो लेना चाहता था। दुर्बल का संबल ही ईश्वर है। मैं उठ पड़ा। जय हो उस महाविष्णु की, उस नरसिंह-मूर्ति की, जिसकी क्रोध-कम्पायित नाम दृष्टि ने ही हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण कर दिया था। जय हो उस महिमाशाली वराहमूर्ति की, जिसके चन्द्रकिरणों के अंकुर के समान दाँतों ने असुर-कुल में अन्धकार उत्पन्न कर दिया था। मैं उठ पड़ा।"

बाण स्त्री-सौंदर्य का प्रशंसक है, किन्तु उसकी सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि में कलुष का कहीं नाम नहीं है। उसे सौंदर्य की ओट में शीघ्र ही विधायिका शक्ति की ज्योति दिखलाई देती है—

"भट्टिनी के चारों ओर एक अनुनाद-राशि लहरा रही थी। मैं थोड़ी देर तक उस शोभा को देखता रहा। मन-ही-मन मैंने सोचा कि कैसा आश्चर्य है, विधाता का कैसा रूपनिर्माण है।"

ऐसे स्थलों पर बाण का कवि उभर आता है, उसकी भावुकता छलकने लगती है और सौन्दर्य-बोधकी विमल दीप्ति शब्दों में चमकने लगती है। नारी-सौन्दर्य किसी भी

भावुक के हृदय को आन्दोलित कर सकता है, किन्तु कवि-हृदय की तरलता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बाण की उक्ति में इसका प्रमाण इस प्रकार है—"मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ।" छोटे राजकुल के अन्त पुर में भट्टिनी की दशा पर विचार करता हुआ बाण स्त्री को—"सृष्टि की सबसे बहुमूल्य वस्तु" मानता है। उसकी मान्यता में 'नारी-सौंदर्य' पूज्य है, वह देव-प्रतिमा है।

निपुणिका के शब्दों में तो बाण 'देवता' है। वह स्त्री का आदर करता है, उसके सौंदर्य का पूज्य मानता है, किन्तु 'स्त्री के तलवे नहीं चाटता।'

निपुणिका बाण को देवता तुल्य आदर देती है। उसके ये शब्द इस बात का प्रमाण हैं—"देखो भट्ट, तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा प्रफुल्ल शतदल खिला रखा है। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम जपने वाली अधम नारी हूँ।" निउनिया के इस भाव की पुष्टि भट्टिनी के इन शब्दों से भी हो जाती है—तो तू भट्ट को क्या समझती है, बेटी? "क्या समझती हूँ, भगवति, सो मैं नहीं जानती। निउनिया कहती थी कि भट्ट देवता हैं।"

इस भाव को बाण ने अपनी सहृदयता, उदारता और सेवा-वृत्ति से अर्जित किया है। उसकी सेवा-वृत्ति किसी कामना या स्वार्थ से प्रेरित नहीं है, सच्चे भक्त की सी अनासक्त भावना है—निर्मल एवं अनाविल। बाणके प्रेम में आसक्ति कहीं नहीं है। उसे "निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता की स्तब्ध प्रतिमा" दृष्टिगोचर होती है। "उस देवता के नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अन्धकार बताया करते हैं, सहज भाव को बंकिम लीला का नाम दिया करते हैं।" बाण के देवता की सही तस्वीर उसके इन शब्दों में और साफ दीख जाती है—"माधवीलता का घर कर जब मधुकर श्रेणी शृंगार करती रहती है, तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर सौरभ के रूप में स्तब्ध उस महा देवता को देख पाता हूँ, नदी जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथ से लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महासागरमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है, मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष-स्थल में क्षण-भर के लिए जब विभ्रमवती विद्युत् चमक कर छिप जाती है, तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।"

बाण शरीर से पुष्ट और मनसे धैर्यवान् है। वह अनेक विद्याओं और कलाओं का पंडित और कष्ट सहने में अभ्यस्त-सा प्रतीत होता है। निराहार रहने की साधना में तो मानो वह पक्का साधक है। अपने आवारा जीवनमें उसने यही साधना की है। उसके बलका परिचय अघोरघंट को गंगा में फेंकनेवाली घटना से मिल सकता है। "मैंने अघोरघंट को कंधे पर उठा लिया और किस प्रकार का ताण्डव किया, वह तो याद नहीं है, पर इतना याद है कि श्मशान का कोई भी कोना मेरे उत्ताल नर्तन से अस्पृष्ट नहीं रहा। अन्त में मैंने अघोरघंट को गंगा में फेंक दिया।" उसके अच्छे तैराक होने से भी उसकी शक्ति का

अनुमान लगाया जा सकता है। बाणके शब्दों में उसकी शक्ति का प्रमाण लीजिये-"मुझ मे न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आगई थी। भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर डाल लिया। XXXX धारा के विरुद्ध मैं देर तक नहीं जूझ सका। लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा।"

(ग) यह ठीक है कि बाण ने अपना सारा जीवन अवधूतवाद् की भाँति मस्ती में बिताया है, किन्तु वह उसकी भाँति अनर्गलचारी नहीं है। उसे अपने कर्तव्य का ध्यान है। वह वीरव्रती और प्रणपालक है। एक बार भट्टिनी के उद्धार का बीड़ा उठाकर किसी भी परिस्थिति म भट्टिनी का साथ छोड़ने वाला नहीं है। कुमार कृष्णवर्धन का उसने अपनी प्रणवीरता का परिचय भी द दिया है। उसे लाग लपट कहते हैं, यह उसका अनिश्चीर प्रलाप है। उसम एक विद्वान् का-सा स्वाभिमान, वीर की-सी निर्भीकता, निर्द्वन्द्व व्यक्ति की-सी आत्मनिर्भरता और महाबली का-सा आत्मविश्वास है।

उसके मनमें आत्मोद्धारक की सहज संवेदन शीलता का आवास है। वह दुखी-जनों के दुःख-मोचन को मल समझता है। इससे स्पष्ट है कि वह धर्म-कर्म की संकीर्ण रूढ़ि-वीथियों में चक्कराने वाला ब्राह्मण नहीं है। उसने निउनिया को बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया है-"साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।" इन वाक्यों से भी स्पष्ट है कि मोह और लोभ के घोर शत्रुओं को बाण ने अनासक्ति-भाव के सामने घुटने टेकने पड़े हैं।

फक्कड़ की जिन्दगी बितानेवाला बाण भट्टिनी के उद्धार के बंधन में इतना कस जायगा, यह कौन सोच सकता है। उसकी स्वतन्त्रता स्वारोपित परतन्त्रता में बदल गई है। विस्मय की बात तो यह है कि जिस पराधीनता का बाण स्वयं मोल लेता है उसके विरुद्ध उसका मन एक बार भी तो विद्रोह नहीं करता है। भट्टिनी और निपुणिका दोनों उसके प्रेम-नवनीत की कोमल पुतलियाँ हैं। उसके अनुराग की अरुणिमा दोनोंमें झलकती है। दोनों के प्रति उसकी अगाढ़ सहानुभूति है, किन्तु निपुणिका के प्रति उसकी करुणा का अटूट प्रवाह है और भट्टिनी के प्रति आदर और श्रद्धा का। दोनों के हृदय-सौन्दर्य का वह पुजारी है। दोनों में भक्ति-भाव का वह आदर करता है। भट्टिनी के प्रति उसके भाव का मूल्य उस समय अभिव्यक्त हो जाता है जब वह वाममार्गी बाबा अघोर भैरव के सामने यह स्वीकार करता है-"इस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है, आर्य। मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक द सकता हूँ। X X X X भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है।"

निपुणिका और भट्टिनी के प्रति बाण के भावों का रूप-चित्र उसके शब्दों में इस प्रकार दिया गया है-"निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ। भट्टिनी के सामने

मुक्त में एक प्रकार की मोहनकारी अहिमा आ जाती है।" इससे स्पष्ट है कि भट्ट निउनिया के 'अन्तर' का समीप से जानता है, किन्तु वह भट्टिनी के रूप पर मुग्ध है। भट्टिनी की रूप-माधुरी को वह देखता ही रह जाता है। बाण को निपुणिका का हृदय अत्यन्त मोहक और आकर्षक प्रतीत हुआ है। वह जानता है कि "निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी।" "निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा।+++ निपुणिका जैसी सेवा-परायण, चारुस्मिता, लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह जड पाषाण पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।

बाण भट्टिनी के सौन्दर्य से अभिभूत तो है ही, प्रतीत ऐसा भी होता है कि वह उसके कुल और वंश की पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। वह भट्टिनी के आदेश को पालने में गौरव समझता है और भट्टिनी की सेवा करने में अपना अहो-भाग्य। उसी के वाक्यों में देखिये—"हाय महाकवि, क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते? कम से कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो। ऐसा हो कि मेरी प्रतिमा का अकुण्ठ विलास नर-लोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके।" +++ मैंने व्याकुल गद्गद कंठ से कहा—"देवि, मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टिनी के प्रति बाण की ममता, भक्ति की गंगा में घुलकर पावन हो गई। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी-रूप में पूजित होकर बड़े सकोच में पड़ गई। बाण ने भट्टिनी को सदैव एक ही ऊँचाई पर रख कर देखा है क्योंकि उसके अनुसार "वचन ही सौंदर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ होजाता। वास्तविकताएँ नग्न-रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती।"

बाण साहसी और भद्र, निर्भीक और निरीह, कारुणिक और विनोदी, भक्त और रक्षक, ब्राह्मण और वीर, अनासक्त और स्वाभिमानी तथा भोला और विश्वासी है। उसके चरित्र का एक लघु, किन्तु दीप्त, चित्र उसी के शब्दों में देख सकते हैं—

"आकाश के नक्षत्रो, साक्षी रहना, बाणभट्ट पथ-भ्रान्त अकर्मी नहीं है, छिन्न-रज्जु अनड्वान् की भाँति अनर्गलचारी नहीं है, केदारोत्पाटित दूर्वादल की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त हतभाग्य नहीं है, वनमें खिलकर मुरझा जाने वाले जंगली फूल की भाँति निष्फल जन्मा नहीं है, धुरधुम्र धूलिकण के समान आश्रयहीन नहीं है, मरुकान्तार में सूख जाने वाली नदी के समान व्यर्थ काम नहीं है।" इस चित्र में बाण की आस्था, निष्ठा, भावुकता, कर्मण्यता, धार्मिकता आदि का सहज संकेत मिल जाता है। हिन्दी

साहित्य को कृतिकार का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित है। धार्मिक प्रबन्ध-रचनाओं में ऐसे चरित मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से; परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित दुर्लभ हैं। "दुनिया की दृष्टि से आवारा, लम्पट, 'भुजंग,' 'वण्ड' आदि अर्थों में गृहीत बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह सवर्ण स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण का मन कुछ आशंका था, फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की, किन्तु यह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह हँसमुख है, चतुर है, मानिनी है, शीलवती है। उसमें सेवा-भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा-भाव और त्याग-भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे मुक्त कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट को और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। गंगा में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है—"मुझे छोड़ो, भट्टिनी को सँभालो।" मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही सदाशयों के बाँट में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है, किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रयत्नों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—"महावराह ही मेरे वाञ्छित सहायक हैं।

उन्होने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट! तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर गृह म आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पक मे डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो? बोलो, अभी मुझे जाना है।" इन वाक्यो मे निपुणिका की करुणार्द्रता, धैर्य, उत्साह और आत्मबलिदान के भाव उमडते दीख रहे हैं।

इतना ही नही, जिस भट्टिनी को निपुणिका अपने प्रयत्नो से मुक्त करती है उसके प्रति उसका भाव सदैव ऊँचा रहता है। वह उसके मान और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहती है। महाराजा के आमत्रण पर भट्टिनी क स्थाण्वीश्वर जाने की बात पर वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए तिलमिला उठती है। बाण को झिडकती हुई सी निपुणिका बालती है—"कैसा जाल भट्ट, स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर राज की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाति चलेगी। महा राजाधिराज को गरज होगी, सौ बार भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद जाँचने आयेंगे, भट्टिनी की मर्यादा क विरुद्ध पत्ता भी खडका तो रक्त की नदी बह जायगी। और कोई नही मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य मे बलि हो जायेंगे। इसमे डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर चलूँगी, तुम प्राण देने मे क्यो हिचकते हो?

भट्टिनी के सम्मान की रक्षामे सन्नद्ध निपुणिका के भाव का दर्शन उसके इन शब्दो म भी किया जा सकता है—'अन्त मे पादाहत सिंहिनी की भाँति गर्ज कर अपना कम्पा झाडते हुए उसने कहा—धिक्कार है भट्ट, तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर राजी हो गये। कान्यकुब्ज का लम्पट-शरण्य राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद बनाने की स्पर्धा रखता है?"

प्रारम्भ मे भट्ट के प्रति निउनिया को मोह उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसे अपनी और भट्ट की प्रकृति का ज्ञान होने से वह सचेत हो गई। इसके पश्चात् उसने मोह का निवारण करने का प्रयत्न किया। छे वर्ष तक कुटिल दुनिया मे असहाय मारी मारी फिरी और फिर उसका मोह भक्ति मे प्रेरित हो गया।

निपुणिका भट्ट की गरिमा को पहचानती है। वह उसकी उपलब्धियों के सबध मे आश्वस्त है। इसके अतिरिक्त उसने अपने हृदय की प्रसून निधि भट्ट को अर्पित करदी है। वह भट्ट का ही कल्याण चाहती है। इसीलिए वह कहती है—"भट्ट मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ उसके सिवा और कुछ हो ही नही सकती थी। परन्तु तुम जो कुछ हो, उससे कही श्रेष्ठ हो सकते हो। इसीलिए कहती हूँ, तुम यहाँ मत रुको। मैं पश्चात्ताप करूँ, तो जिस नरक म पडी हूँ वहाँ भी स्थान नही मिलेगा। तुम संभल जाओ, तो जिस स्वर्ग मे स्थान पाओगे, उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नही है, तुम्हारे मन में भी नही है। मैंने दुनिया कम नही देखी है। इस दुनिया मे तुम्हारे जैसे पुरुष रत्न दुर्लभ हैं।"

निपुणिका बाणभट्ट को देवता मानती है। वह उसके नाम पर किसी प्रकार का कलंक नहीं देख सकती। वह उसके सम्मान और शरीर की रक्षा करने में तत्पर रहती है। मदनश्री के मुख से उद्धत गर्व के साथ निकले हुए बाणविषयक कुवाक्य को सुनकर उसका मर्म आहत हो जाता है और वह उसको गर्वपूर्वक उत्तर देती है—"बाणभट्ट आदमी नहीं है, वह देवता है, सखि।" वज्रतीर्थ में निपुणिका बाण के प्राणों पर आई देख कर आंधी की तरह आती है और एक ही धक्के में चण्डमण्डना को झटक कर छीन लेती है, और खड्ग लेकर वह विकट नृत्य करके हवन कुण्ड आदि को विध्वस्त करके भयकर स्थिति में क्रांति पैदा कर देती है, जिसमे बाण की रक्षा हो जाती है।

बाण के सम्बन्ध में निपुणिका का देव-भाव बहुत दृढ है। वह भट्ट को स्वयं कह देती है—"मैं क्या नहीं जानती कि तुम जानबूझ कर कभी अनुचित बात नहीं कर सकते ? देखो भट्ट, तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा अक्षुण्ण शतदल खिला रखा है। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम जपनेवाली भक्त नारी हूँ। ऐसा कलुष मानस लेकर भी जो जी रही हूँ, सो केवल इसलिए कि तुमने मुझे पात्र समझा है।" इस प्रकार की बातों से निपुणिका का सद्भाव, विश्वास और विनतिभाव स्पष्ट हो जाता है।

निपुणिका की मामूली से मामूली बातचीत में बाण का नाम सम्मिलित रहता है। इसका प्रमाण बाण का सुचरिता के इन शब्दों से मिल जाता है—"वह आपका नाम लिए बिना मामूली से मामूली बात भी नहीं चला सकती, बहुत दिनों से साध थी कि आपके दर्शन करूँ।"

निपुणिका धैर्य, साहस, सहनशीलता, प्रेम और भक्ति की साक्षात् प्रतिमा है। वह कलाविद तो है ही कलावती भी है। उसमें प्रत्युत्पन्न बुद्धि का अभाव नहीं है। नाटक की भूमिका में मंच पर उतरे हुए जटिलवटु की अद्भुत चेष्टाओं से जब अभिनय बिगड़ने लगा तो निपुणिका ने थरथराते हुए बाण को आश्वासन दिया और तितली की तरह नाचती हुई उसने रंगमंच पर पहुँच कर, अपने बायें हाथ को कटिप्रदेश पर रख कर चंचल चारी के साथ उद्धत नर्तन से रंगमंच को मुखरित कर दिया। मूर्ख जटिल ठककर खड़ा हो गया। निउनिया ने दाहिने हाथ से उसकी दाढ़ी पकड़ी और सस्मित कण्ठ से कहा—'नागर मेरे नाचोगे नहीं ?' इससे क्षणभर में सारा वातावरण हास्यमय हो गया।

निउनिया, नृत्य और संगीत में कुशल थी, किन्तु हृदय की अनन्त संपत्ति को सुपात्र में लुटाने में वह बड़ी भोली थी। निपुणिका स्त्री-जाति का शृंगार, सतीत्व की मर्यादा और उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी। उसने अपने सारे जीवन को तिल-तिल होम कर महिमान्वित कर दिया था। निपुणिका में ईर्ष्या नहीं थी, फिर भी बाण एवं भट्टिनी के सम्पर्क में आने के बाद उसका जीवन एक विचित्र मानसिक संघर्ष में बीतता

दीखता है । वासवदत्ता के अभिनय मे वह अपने निगूढ भावो को खोलकर रख देती है। निपुणिका उन इने गिने पात्रो मे से है जो साहित्य मे स्त्री की भूमिका पर उतर कर अनेक गुणो से सम्पन्न होकर भी जीवन की ज्वाला मे तिल-तिल भस्म होते हैं, किन्तु दूसरो के उजडे जीवन को क्रीडा-कानन बनाने के लिए अपने त्यागमय प्रेम की धारा बहाजाते है।

निपुणिका मानवता की शोभा, नारी-भूषण, त्याग की प्रतिमा, प्रेम की पुतली, कला की मधुर कल्पना और सदाशयता की लोक-सीमा है। जाति और वर्ग के बन्धन से ऊपर उठकर जीवन को जटिल परिस्थितियो मे भी उसने नारी समाज को जो मार्ग दिखलाया है, वह जीवन के मधुर और उज्ज्वल रूप को प्रशस्त करने मे बडा सहायक सिद्ध हो सकता है। ममता मे संयम, करुणा मे बलिदान की भावना और प्रेम मे उदारता और निश्छलता का पावन स्वरूप दीप्त करके निपुणिका पाठको के कोमल हृदयो को सदैव प्रकाशित करती रहेगी। पाठक को लगता है मानो वह भट्ट से कह रही है—"मैंने कुछ भी नही रखा, अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनो मे कोई विरोध नही है। प्रेम की दो विरुद्ध दिशाएँ एक सूत्र हो गई हैं।"

भट्टिनी

यह राजवंश की मर्यादा मे रहने वाली एक शीलवती नारी है। उसकी आयु और शालीनता का अद्भुत समझौता पाठको को दग किये बिना नही रहता। विकट समर-विजयी तुवरमिलिन्द की वह प्राणाधिक कन्या दस्युओ के हाथ पडकर स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल के शासनमय वातावरण मे आ फँसती है। छोटा राजकुल अपने ऐसे अधम कार्यों से कलंकित हो चुका है, किन्तु सामंतीय विलास उस कुल का आचार बन गया है।

भट्टिनी के सौन्दर्य की अगाध राशि उसे संयम के मार्ग पर प्रेरित करती हुई उसकी भक्ति-भावना को पुष्ट बनाती है। जिस प्रकार सुन्दरता ने भट्टिनी को अपना रखा है, उसी प्रकार भट्टिनी ने महावराह की भक्ति को अपना रखा है। महावराह के चरणो में अडिग निष्ठा रखने वाली इस राजकुमारी को देखते ही बाण विस्मित होकर यह सोचने लगता है—"इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई।"

प्रथम दर्शन से ही भट्ट के भावो की सारी गठरी खुलकर भट्टिनी की रूप-माधुरी के इर्दगिर्द बिखर जाती है। उसने भट्टिनी के अनेक रूपो को अनेक, मानसिक परिस्थितियों को बडे निकट से देखा है। चिन्ताकुल शोकमग्न अवस्था से लेकर बाण ने भट्टिनी को समाहृत प्रसन्न मुद्रा तक में देखा है। प्रत्येक अवस्था मे उसने उसे एक दिव्य कान्ति से मण्डित पाया है। उसके वेश, नेत्र, वर्ण और मुद्राओ मे लेखक की वर्णन-प्रतिभा ने बडी उदारता दिखलाई है। भट्टिनी के पास हृदय की अमोघ सम्पत्ति है, किन्तु वह उसका उपयोग बडे संयम और गौरव से करती है।

बाण को भट्टिनी आदर करती है और उसके प्रति निकट रहती है। बाण अपने को उसका अभिभावक समझता है, दूसरे लोग भी यही मानते हैं, किन्तु भट्टिनी भी भट्ट के

अभिलाषक होने का आनन्द कभी-कभी पा ही लेती है। बाण भट्टिनी की परिस्थितियों का अनादर नहीं करता और न भट्टिनी के सम्मान के प्रति कभी असावधानी ही दिखलाता है। वह भट्टिनी को देवी मानता है। भट्ट का आकर्षण भट्टिनी के प्रति प्रेम के पुरस्सर को लेकर है। बाण के प्रेम में कहीं भी तो वासना प्रकट नहीं होती। कितना संयत प्रेम है, यह देखने पर विस्मय होता है।

भट्टिनी के स्वभाव में महिमा और आचरण में गरिमा का निवास है। वह बड़ी शान्त और गम्भीर स्वभाव की महिला है। ईर्ष्या और द्वेष से मुक्त, वह आचरण की एक विशेष स्तरीय सभ्यता का निर्वाह करती है। उसके सौन्दर्य से बाण अभिभूत है, उसकी आचरण-गरिमा से वह प्रभावित है, किन्तु उसमें वह इतना खुला नहीं है जितना निपुणिका से। सम्भवतः इसका कारण भट्टिनी के स्वभाव की गम्भीरता है। भट्टिनी न तो चतुर है और न वाचाल ही। नियत एवं सन्तुलित वाणी के व्यवहार से वह बाण पर एक गौरव की छाप डाल देती है।

भट्टिनी अपने पिता से दूर, अपने देश और घर से दूर छोटे राजकुल के वासना-कलुष वन्धन में भी अधिक उद्विग्न नहीं रहती है। एक अनार्य महिला ने महावराह को भक्ति से दृढ़ धैर्य, साहस और नैश्चल्य भाव संकलित कर लिया है। जिस समय नर्तकियों का दल चर्चरी ताल के साथ गान करता हुआ और एक विलक्षण नृत्य, एक अद्भुत प्यास की कभी तृप्त न होने वाली छटपटाहट को व्यक्त करता है, उस समय उस राग-रञ्जित गान की पृष्ठभूमि में वन्दिनी भट्टिनी अपनी भक्ति-कातर वाणी में महावराह की स्तुति करती है। वह अपने अश्रुपूर्ण नयनों से महावराह की ओर देखती हुई, अत्यन्त धीर पद-संचार के साथ अपने इष्टदेव की परिक्रमा करती है। भक्ति का संबल और प्रकृति की गरिमा पाकर भट्टिनी नारी-भूषण बन गई है।

बाण भट्टिनी के चरित्र में सीता के पावन चरित्र की कल्पना करता हुआ कहता है—"मैं बड़भागी हूँ, जो इस महिमाशालिनी राजबाला की सेवा का अवसर पा सका। आहा! किस पाप अभिसंधि ने इस कुसुम-कलिका को तोड़ लिया था? किस दुर्वह भोग-लिप्सा ने इस पवित्र शरीर को कलुषित करने का संकल्प किया था? बाण के मुख से मार्गों की जो शान्ति, उसके चरित्र की जो निर्मलता व्यक्त हुई है उसमें भट्टिनी का 'चन्द्र-दीधिति' नाम सार्थक हो गया है।

भट्टिनी स्वभाव से गंभीर, किन्तु वाणी से मृदुल है। उसको अपनी मर्यादा और आत्मसम्मान का बहुत ख़याल है। इन तीनों गुणों को हम एक ही साथ उसके इस कथ्य में देख सकते हैं—

"भट्टिनी ने आँगन के कोने में रखी हुई महावराह की मूर्ति को विश्वास के साथ देखा। गम्भीर भाव से, किन्तु मृदुल स्वर में बोली—चञ्चल मत होओ, भद्र! तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण विश्वास है। जैसा उचित समझो, करो। केवल इतना स्मरण रखो कि मैं

किसी राजवंश के अन्तःपुर में या उससे सम्बद्ध या संलग्न किसी गृह में नहीं जा सकती।"

भट्टिनी अपने सुख या कल्याण के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को संकट में डालना पसंद नहीं करती है। छोटे राजकुल के कलुषित वातावरण से मुक्त भट्टिनी के कोमल मानस में 'बाभ्रव्य' का पुनरावर्तन इस बात का प्रमाण है।

भट्टिनी समय और परिस्थितियों का उचित मूल्यांकन करने मे बड़ी कुशल है। वह प्रारम्भ में तो देवपुत्र की कन्या होने का अभिमान रखती थी। बाद मे उसका वह अभिमान चला गया। भगवान् की बनाई इतर लाखों कन्याओं की भाँति वह भी अपने को एक मनुष्य-कन्या समझने लगी। उसने यह अवगत कर लिया कि उसका जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नहीं है। उसका अहंकार मर गया, अभिमान नष्ट हो गया और कौलीन्य-गर्व विलुप्त हो गया। वह जगत् के दु:खप्रवाह मे अपनी सामान्यता का अनुभव करने लगी। उसे माँ से मिले हुए बौद्ध दु:खवाद और पिता से मिले हुए भगवदनुग्रह के भाव ने बड़ी शान्ति दी। उसके ऊपर महावराह की करुणा मानो निरन्तर बरसती रही।

बाण के प्रति भट्टिनी के भावों का स्पष्ट परिचय इससे अधिक और क्या मिल सकता है—"क्या बताऊँ आर्य, जिस दिन भट्ट ने मुझ से प्रथम वाक्य कहा था, उस दिन मेरा नवीन जन्म हुआ + + + मैंने उस दिन अपनी सार्थकता को प्रथम बार अनुभव किया। + + + उनकी कोमल-मधुर वाणी में अद्भुत मिठास था। भट्ट ने अत्यन्त स्पष्ट, संकोच-रहित और अर्थपूर्ण वाणी मे जो दो-चार वाक्य कहे, वे सामगान के समान पवित्र थे। + + + मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है, जो आराधक के अभाव में मुरझाया हुआ छिपा बैठा है।"

भट्टिनी ने अपने स्वभाव मे अत्यन्त परिवर्तन कर लिया था। समय और परिस्थितियों के साथ उसने अपने स्वभाव को नये ढाँचे मे ढालने का अद्भुत प्रयास किया था, फिर भी उसके सहज आभिजात्य-गौरव ने उसका साथ नहीं छोड़ा था। वाणी शासन के ओज से अब भी एकान्ततः विरहित नहीं थी। हाँ, अधिकार के स्वर में मृदुता का सहयोग कुछ अधिक स्पष्ट हो गया था।

भट्ट के प्रति भट्टिनी के भाव की एक निर्मल और स्पष्ट झाँकी भट्टिनी के इन शब्दों में मिल सकती है—"भट्ट! मैं देवी नहीं हूँ। हाड़-माँस की नारी हूँ। मैं विघ्न-स्वरूपा हूँ, परन्तु मैं जानती हूँ कि मेरा विघ्नरूप होना ही विश्व का परित्राण है। + + + सौ-सौ बालिकाओं के समान एक सामान्य बालिका। मैं हूँ तुम्हारी भट्टिनी। + + + बुरा न मानो। तुम्हें मुझे देवी समझने मे आनन्द मिलता है, तो मैं देवी ही सही। यह वरदान दो।"

भट्टिनी के चरित्र में आत्मगौरव, पवित्र भक्ति, आराध्य में प्रबल निष्ठा, हृदय की तरलता, उदारता, निष्कपटता के साथ विश्वासमय गंभीर प्रेम, संयम-पाटव, व्यवहार-कौशल आदि गुणों का भी अद्‌भुत समन्वय है। संयत विचारों और संयत आचरणों का सुयोग—स्वर्ण-सौरभ-समन्वय भट्टिनी के चरित्र की महान् उपलब्धि है। भट्ट से अन्तिम बार विदा होते समय उसकी व्यथाकातर वाणी सहृदयों को व्यग्र कर देती है। भट्टिनी की अलौकिक रूप-राशि एवं भावोद्वेलनों के रंगीन चित्र लेखक की कल्पना और कला के सूक्ष्म तथा सजीव स्पर्शों के मोहक चिह्न हैं।

१६. दीदी का प्रसंग

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता पर संभवतः किसी को भी विश्वास न होता, यदि इसमें आमुख और उपसंहार न होता। आमुख में प्रमुखता दीदी के परिचय को दी गई है। दीदी के परिचय की मनोहर वीथिका मे होकर लेखक पाठक को उस पुलिंदे तक ले पहुँचा है जिसमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मिलती है। इस वीथी का सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि पाठक के मन को इधर-उधर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। पुलिंदे पर पहुँच कर तो हमारा विश्वास जम जाता है। अन्त में—उपसंहार में दीदी का पत्र बहुत विचित्र है। हमें उसके इन्द्रजाल मे फाँस कर लेखक उसकी टिप्पणी करने लग जाता है, जिससे विश्वास की जड़ें हिलने लगती हैं।

आमुख और उपसहार इस रचना के प्राण हैं। औत्सुक्य और विस्मय की आधार-शिला भी इन्हीं मे निहित है और कथा के रहस्य का उद्घाटन भी इन्हीं से हो सकता है, किन्तु पाठक को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये अन्यथा वह भूल-भुलैयों में पड़ कर स्वयं को भी भूल सकता है और 'यह रचना आत्मकथा है या कुछ और है', इस विषय मे निर्णय नहीं कर सकता है। इस रचना को बाणभट्ट की कृति-जैसी प्रमाणित करने के लिए जो मोहक एवं सरस प्रमाण दिये जाते हैं उनमें चाहे कितनी ही अलौकिकता निहित हो, किन्तु कल्पना की उड़ान को विस्मय-विमुग्ध होकर देखने के सिवा और कोई चारा भी नहीं रहता। कथा मे जिस प्रकार भट्टिनी और निपुणिका वास्तविक लगती हैं उसी प्रकार आमुख मे दीदी भी वास्तविक लगती हैं।

इस रचना के रहस्य को समझने के लिए आमुख और उपसंहार के अध्ययन में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। उन्हीं में से रचना की ऐतिहासिकता, साहित्यिकता, कल्पनात्मकता और कुशलता हमारे समक्ष आ सकती है। आमुख और उपसंहार के इन्द्र-जाल से कुछ सूत्र पृथक् करके मनीषा के सामने मीमांसा के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। छाँट कर प्रमुख सूत्रों को इस प्रकार रख सकते हैं—

आमुख के सूत्र

(१) मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं, पर उन्होने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है, और पिछले पाँच वर्षों मे मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है, जो इस प्रेस से संबद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।

(२) वे मुझे देख कर बहुत प्रसन्न हुईं'। इसके कुछ सूत्र ही वास्तविक हैं।

इसमें अधिकांशतः कल्पना-सूत्रों का ही योग है और इनसे जो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पट तैयार हुआ है वह हिन्दी-साहित्य-गगन का एक जगमगाता तारा है।

कथामुख में निवेदन के पश्चात् 'बाणभट्ट की आत्मकथा' शीर्षक के अन्तर्गत ही लेखक ने मिस कैथराइन—अपनी तथाकथित दीदी—का जो परिचय दिया है, वह कथा की भूमिका और कथा का ही अङ्ग है। जो कथा दीदी के परिचय से आरम्भ होती है वह उनके पत्र तथा उनके सम्बन्ध में लेखक की टिप्पणी से समाप्त होती है। कथा के ये दोनों अंश पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए लेखक ने अवलम्बित किये हैं और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हो गया है। भूमिका और उपसंहार की कुछ बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। उनको ध्यान में रखकर पाठक के आगे 'रहस्य' उद्घाटित होने लगता है, किन्तु रहस्य की ओर ध्यान को बड़े मनोयोग से संबद्ध रखना होता। वे बातें ये हैं—

१. "मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं, पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है, और पिछले पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है, जो इस लेख से संबद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।"

२. "मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं—'तुझे ही तो खोज रही थी। शोण यात्रा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो जा। देख, मेरी हिन्दी में जो गलती है उसे सुधार दे और आनन्द से इसका अंग्रेजी में उल्था करा ले। ले भला।"

३. "फिर बोलीं—देख, मैं यहाँ ज्यादा नहीं ठहर सकती। इस अनुवाद का तू जरा ध्यान से पढ़ और कलकत्ते जाकर टाइप करा ला। दो-एक चित्र भी पुस्तक में देने होंगे। जा, जल्दी कर।"

४. "कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिये कठिन है, फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'अथ बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख्यते'। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' तब तो दीदी को अद्भुत वस्तु हाथ लगी है। मैं ध्यान से सारी कथा पढ़ गया। मुझे अपार आनन्द आ रहा था। इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है।"

५. "एक दिन मैंने सोचा कि बाणभट्ट के ग्रन्थों से मिला कर देखा जाय कि कथा कितनी प्रामाणिक है। कथा में ऐसी बहुत-सी बातें थीं, जो इन पुस्तकों में नहीं हैं। इसके लिए मैंने समसामयिक पुस्तकों का आश्रय लिया और एक तरह से कथा को नये सिरे से सम्पादित किया। आगे जो कथा दी हुई है, वह दीदी का अनुवाद है और कुछ-

नोट में पुस्तकों के हवाले दिये हुए हैं,' वे मेरे हैं। कथा ही असल में महत्त्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता की सबूत हैं।"

६. "नीचे बाणभट्ट की आत्म-कथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। लक्ष्य करने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।"

७ "अब मेरे दिन गिने-चुने ही रह गये हैं। इसके पहले 'कथा' के बारे में मैंने जो पत्र लिखा था उसे मत छपाना। मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच सन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है।"

८. "आत्म-कथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'ऑटोबायोग्राफी' हो। बे भला! तूने संस्कृत पढ़ी है, ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्म-कथा शोण नद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि: कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ?"

९. "तुमसे मेरी एक शिकायत बराबर रही है। तू बात नहीं समझता! भोले,' बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"

१०. "तो 'आत्मकथा' का अर्थ 'ऑटोबायोग्राफी' समझकर दीदी की दृष्टि में मैंने अनर्थ कर दिया है। × × × शोण नद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण ने बाणभट्ट की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी।"

११. "अस्ट्रियवर्ष की यवन-कुमारी देवपुत्रनन्दिनी क्या आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी हैं। उनके इस वाक्य का क्या अर्थ है कि 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं है। आस्ट्रिया में जिस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था, वह कौन था ? हाय, दीदी ने क्या हम लोगों के अज्ञात अपने उस कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था? यह कैसा रहस्य है? दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे ? मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।"

१२. "पत्र पढ़ने के बाद मेरे चित्त की यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक हैं तो साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है। मध्ययुग के किसी-किसी कवि ने राधिका की इस उत्कट अभिलाषा का वर्णन किया है कि वे समझ सकतीं कि कृष्ण उनमें क्या रस पाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी, कहते हैं, राधिका की दृष्टि से अपने को देखना चाहा था और इसीलिए नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए थे।"

१३. "काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी, उसे दीदी ने अपने जीवन

में सत्य करके दिखा दिया × × × परन्तु सहृदयों के मार्ग में इस व्याख्या को मैं बाधक नहीं बनाना चाहता। इसलिए मैं साहित्यिक समीक्षा के संकल्प से विरत हो रहा हूँ। कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।"—व्यो०।

इनमें से पहला और सातवाँ पॉइंट दीदी के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है। "मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है" और "यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं, पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है।" ये दोनों पॉइंट इस अनुमान की ओर पाठक को ले जाते हैं कि दीदी के साथ पत्र-व्यवहार नहीं हो सकता। उनका पता ज्ञात नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सम्बन्ध में उनसे कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। जानकारी प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई भी प्रयत्न व्यर्थ होगा।

आठवें और दसवें पॉइंट से यह प्रमाणित होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफी' नहीं है। यह 'आत्मकथा' नहीं आत्मा की आवाज है, आत्मा की कथा है जो कहीं भी सुनाई दे सकती है। शोणनद के अनन्त बालुका-कणों में से, न जाने, किस कण ने बाणभट्ट की आत्मकथा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी।

बारहवें और तेरहवें पॉइंट से इस रचना का कल्पना-प्रसव प्रमाणित होता है। 'काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने अपने जीवन में सत्य करके दिखा दिया' से व्यक्तिगत कल्पना से ऊपर समष्टिगत व्यापक काव्य-कल्पना की प्रस्थापना भी इस कृति का आधार सिद्ध हो गई। 'साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है' से इस रचना की साहित्यिकता (काव्य-कल्पना-प्रसूति) ही सिद्ध होती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह साहित्यिक कृति तो है ही, किन्तु साहित्य में भी ऐसा प्रयोग है जो अभूतपूर्व है। स्पष्ट है कि आत्मकथा का प्रयोग साहित्य में एक परम्परा का स्थान ले चुका है। इसे अभिनव प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अतएव 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा न होकर साहित्य में एक नवीन प्रयोग है। इस भ्रम के निवारण के लिए, कि यह कृति 'आत्मकथा' है, इस उक्ति से अधिक सबल प्रमाण नहीं मिल सकता।

नवाँ पॉइंट पाठक के सामने लेखक की मीमांसा करने लगता है। इस कथा में बाणभट्ट के 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति हो, ऐसी बात नहीं है। लोक में ऐसा हृदय कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है, ऐसे तो अनेक हृदय मिल सकते हैं। अतएव यह कृति बाणभट्ट के हृदय की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु सामान्य 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति है जो आत्मकथा (ऑटोबायोग्राफी) नहीं हो सकती। जो बाणभट्ट आत्मकथाकार के रूप में इस कृति में हमारे सामने आता है वह भारत में ही नहीं, आर्दृया में[1] भी

1. देखिये २१वाँ पॉइंट।

हो सकता है। इस पॉइंट से कथा का व्यक्ति-सम्बन्ध हमारे सामने न आकर सामान्य-सम्बन्ध ही आता है। फिर कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट के जीवन पर इससे कुछ नया प्रकाश पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मकथा के कल्पना-प्रसव पर कुछ नया प्रकाश डालने के लिए ग्यारहवें पाइंट को कुछ अधिक ध्यान से काम में लिया जा सकता है। दीदी और देवपुत्र-नंदिनी (भट्टिनी) का अभेद करके लेखक ने न केवल भट्टिनी को कल्पना-प्रसूत सिद्ध कर दिया, वरन् कृति की साहित्यिकता और कल्पनात्मकता को भी बड़े कौशल से सिद्ध कर दिया।

दीदी बड़ी रहस्यमयी महिला हैं। इस देवी का जन्म कहाँ हुआ था—इस बात को तो पण्डितजी ही जानते होंगे, किन्तु वह पण्डितजी के मस्तिष्क की बड़ी सुन्दर उपज है, बड़ी ऐन्द्रजालिक सृष्टि है, संभवतः इस बात को कुछ रहस्यज्ञ अवश्य जानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के रूप में दीदी ने पण्डितजी को जो कुछ दिया है वह हिन्दी साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है। अतएव 'दीदी' स्वयं हिन्दी साहित्य का एक अपूर्व उपलाभ है। यदि दीदी को पण्डितजी ने न पाया होता तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी पाठकों को आकाश-कुसुम बनी होती।

पं० हजारीप्रसादजी ने आत्मकथा में दीदी को दो बार प्रकट किया है—एक बार प्रत्यक्ष रूप में और दूसरी बार परोक्ष रूप में। कथामुख में दीदी लेखक से बातें करती है, वह प्रत्यक्ष है! उपसंहार में दीदी अपने पत्र में प्रकट होती है। आमुख में पण्डितजी को दीदी से मधुर डाँट के साथ कागजों का एक पुलिन्दा मिलता है। उसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे अक्षरों में लिखा था—अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।" फिर वे विस्मय प्रकट करते हुए लिखते हैं—"बाणभट्ट की आत्मकथा! तब तो दीदी को अमूल्य-वस्तु हाथ लगी है।" आमुख को समाप्त करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं—"नीचे बाणभट्ट की आत्मकथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। लक्ष्य करने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।" उक्त वाक्यों के साथ दीदी के इन वाक्यों को भी रख कर देखने से कुछ विशेष बातें सामने आती हैं—"शोण-यात्रा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो भला! देख, मेरी हिन्दी में जो गलती है, उसे सुधार दे और आनंद से इसका अंग्रेजी में उल्था करा ले।"

उक्त वाक्यों से स्पष्टतः ये निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम को एक पुस्तक दीदी को शोण-यात्रा में मिली थी।

(२) उक्त पुस्तक अपने मौलिक रूप में संस्कृत में लिखी हुई थी।

(३) इसका हिन्दी-उल्था दीदी ने किया।

(४) संशोधन-कार्य पंडितजी को सौंपा गया।

(५) बाणभट्ट की अन्य रचनाओं की भाँति यह कृति भी अपूर्ण है।

ये बातें पाठक की बुद्धि पर 'वशीकरण' का प्रभाव डालती हैं।

उपसंहार में दिये हुए दीदी के पत्र से भी कुछ बातें सामने आती हैं। पत्र में दीदी लिखती है—"आत्मकथा" के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने इसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानों वह 'आटोबायोग्राफी' हो। मैं भला! तूने संस्कृत पढ़ी है, ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मकथा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ? + + + भोले, 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" उपसंहार में पंडितजी के अपने कुछ वाक्य भी महत्त्व के हैं—

"शोणनद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण ने बाणभट्ट की आत्मा की यह मर्ममदी पुकार दीदी को सुना दी थी ? + + + अस्सिवर्ष की यवन-कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही हैं। आस्ट्रिया में किस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था वह कौन था ? हाय, दीदी ने क्या हमलोगों से अज्ञात अपने उसी कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था ! यह कैसा रहस्य है दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे मेरा मन उस 'बाणभट्ट' का संधान पाने को व्याकुल है। + + + पत्र पढ़ने के बाद मेरे मन में यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है।"

इन उक्तियों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं वे ये हैं—

(१) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफी' नहीं है।

(२) यह आत्मा की आवाज है। यह उस रागात्मक हृदय का चित्र है जो नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त है। यह किसी विशिष्ट व्यक्ति की कहानी नहीं है।

(३) यवन-कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी ही दीदी हैं। जो हृदय यवन-कुमारी को प्राप्त है वही दीदी को प्राप्त है। दीदी ने बाणभट्ट की आवाज नहीं सुनी, वरन् बाणभट्ट की आत्मा की पुकार सुनी है।

(४) आत्मकथा एक प्रेमी हृदय की कहानी है।

(५) दीदी कवि की कल्पना है।

(६) सामग्री के अभाव और कला की पूर्णता ने इस कृति को अधूरी-जैसी प्रकट करवाया है, अन्यथा यह रचना अपने आपमें पूर्ण है। अधूरी और 'पूरी' का अन्तर भी एक रहस्य है।

इस प्रकार आमुख के आधार पर निकाले गये पहले तीन (और अन्तिम भी) निष्कर्ष रह जाते हैं और यही सिद्ध होता है कि (१) यह कृति आत्मकथा नहीं है, (२) यह बाणभट्ट के हाथ की प्राचीन संस्कृत-रचना भी नहीं है, तथा (३) यह किसी दीदी के द्वारा किया हुआ अनुवाद भी नहीं है। पाँचवीं बात भी असिद्ध हो जाती है। यह कृति अपूर्ण रचना नहीं है। कौशल से अपूर्ण-जैसी दिखलाई गई है। यह दिखावटी अपूर्णता मूठ को सच-जैसा दिखाने में बड़ी सहायक हुई है। हाँ, चौथी बात में थोड़ा सा सत्यांश है, और वह यह कि बाणभट्ट की प्राप्त जीवन-सामग्री में कल्पना का पुट देकर इसे विशेष कृति का रूप दिया है।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी की दीदी चाहे वन्ध्या का पुत्र न रही हो, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा के संबंध में उसका यह प्रसंग कल्पना का छद्म-विलास-मात्र है। दीदी को कथामुख का चरित्र बनाया गया है। उपसंहार में भी दीदी की प्रमुखता उपेक्षित नहीं हुई है। कथा के आदि और अन्त में दीदी के प्रसंग ने कथा-सृष्टि में दीदी के महत्त्व को प्रमाणित कर दिया है। दीदी के बिना यह कथा विश्वसनीय सत्ता नहीं प्राप्त कर सकती थी। इस कथा की भूमिका भी दीदी और उपसंहार भी दीदी ही है। यदि दीदी ऐतिहासिक भावुकता की सृष्टि है तो बाणभट्ट की आत्मकथा भावुक ऐतिहासिकता का प्रतिफलन है। यदि दीदी का प्रसंग न होता तो कथा को इतना ऐतिहासिक आधार न मिल पाता।

"बाणभट्ट की आत्मकथा" का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने 'दीदी' के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया है वह साहित्यिक छल की रक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने 'दीदी' से एक ओर अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है और दूसरी ओर आत्मकथा का। आत्मकथा के मूलभाग से प्रत्यक्षतः दीदी का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जिस भाग से दीदी का सम्बन्ध है वह आत्मकथा का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश है। उसके बिना यह सारा आसमानी किला एक क्षण में विनष्ट हो जाता है। अतएव बाणभट्ट के महान् व्यक्तित्व, आत्मकथा के विशाल प्रासाद, और वातावरण के इतने बड़े सम्भार की रक्षा के लिए 'दीदी' का अस्तित्व अनिवार्य है। दीदी के साथ कथामुख और उपसंहार भी अनिवार्य हैं। इसलिए जब तक इस उपन्यास का सम्बन्ध कथामुख और उपसंहार से रहेगा तब तक 'दीदी' उसमें एक पात्र के रूप में प्रस्तुत रहेगी।

'दीदी' के पात्रत्व पर आलोचकों को संदेह हो सकता है, किन्तु सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। यदि लेखक के मन में 'दीदी' को पात्र बनाने की बात न रही होती तो उसके चरित्र का इतना सूक्ष्मता से अंकन न किया गया होता।

'दीदी' को यात्रा का बड़ा शौक था। पैदल-यात्रा में उनकी बड़ी रुचि थी। यात्राओं में उनकी गवेषणा-वृत्ति जागरूक रहती थी। वे कभी कोई ताम्रपत्र की पोथी, कभी त्रिचित्र पाठ की पातीवाली कोई पुरानी पोथी और कभी पुराने सिक्के खोज कर ले

करके भी मनुष्य पराजय की दिशा में ही चला जा रहा है। युद्ध के भयानक दृश्य को सामने लाती हुई दीदी कहती हैं—"यह अच्छा ही हुआ कि तुमने यह घृणित नर-संहार नहीं देखा। यह मनुष्य का नहीं, मनुष्यता के वध का दृश्य था।"

दीदी के मत से यह कृति बाणभट्ट की आत्मकथा न होकर उसकी आत्मा की कथा है। इसलिए वे कहती हैं—

"आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'ऑटो-बायोग्राफी' हो। 'ले भला', तूने संस्कृत पढ़ी है, ऐसी ही तेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने ? बाणभट्ट की आत्मा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ? देख रे, तू पुरुष है, तू युवक है, तुझे इतना प्रमाद नहीं शोभता।"

दीदी के इन वाक्यों से उनके चरित्र पर कुछ और प्रकाश पड़ता है और वह यह कि उनको आलस्य और प्रमाद अच्छा नहीं लगता। युवक पुरुष के लिए तो प्रमाद बहुत ही अशोभनीय है।

दीदी आत्मा की एकता और व्यापकता में विश्वस्त हैं। उनकी यह मान्यता है—"बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"

दीदी के विचार से तीन दोष बड़े भयंकर हैं और मनुष्य को उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिये—वे हैं प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता।

गवेषणावृत्ति से लेकर दीदी के आत्मवाद तक कथामुख और उपसंहार में उनके संबंध में जो कुछ कहा गया है वह उनकी पात्रता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त से अधिक है। आत्मकथा में कितने ही ऐसे पात्र हैं जिनके संबंध में दीदी से कुछ कम या अधिक कह दिया गया है किन्तु उनका महत्त्व मूलकथा में जितना आंका जा सकता है, अपने प्रसंग में दीदी का महत्त्व उससे कहीं अधिक है। दीदी 'आत्मकथा' की ऐतिहासिकता की सूत्रधारिणी, साहित्यिक छल का प्राणतत्त्व और कुतूहल की आधार-शिला हैं। यदि कथामुख और उपसंहार आत्मकथा से किसी भी प्रकार संबद्ध माने जा सकते हैं तो 'आत्मकथा' के रचनात्मक गठन में दीदी का प्रसंग अविस्मरणीय है।

१७. भाषा-शैली

इस कृति के यशस्वी रचयिता डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी उत्कृष्ट शैलीकार हैं। उनकी भाषा बड़ी प्राञ्जल एवं समर्थ है। कबीर, हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रयोग के फूल हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख आदि अनेक रचनाएँ डॉ. द्विवेदी की गद्यशैली के अनेक प्रकारों को सामने लाती हैं। इन कृतियों में लेखक के दो रूप सामने आते हैं—कवि-रूप तथा आलोचक-रूप। गद्य में भी कवि रहता है, यह चौंकाने वाली बात नहीं है। प्राचीनों ने भी गद्य को काव्य-कोटि से बहिष्कृत नहीं किया था। इसीलिए 'काव्यन्च द्विविध गद्यन्च पद्यन्च' जैसी प्राचीन शास्त्रोक्ति का प्रयोग आज तक सम्मानित है।

द्विवेदीजी की संस्कृत-पद्य-रचना से मैं परिचित हूँ, किन्तु मुझे ज्ञात नहीं है कि उन्होंने हिन्दी में कोई पद्य-रचना की है। फिर भी उनके कवित्व का परिचय उक्त सभी रचनाओं से मिल जाता है। सामान्य गद्य में तो द्विवेदीजी का कवि मुखर रहता ही है, परन्तु आलोचनात्मक गद्य में भी उनका 'कवि' दबता नहीं है। उनके व्यक्तित्व की मस्ती तथा वाणी की व्यंग्यात्मकता उनकी गद्य रचनाओं में स्थान-स्थान पर इतराती दिखाई पड़ती है। उनकी वाणी में मादकता भी है और तीव्रता भी, किन्तु तीव्रता शुष्क एवं नीरस नहीं है। व्यंग्यमय माधुर्य उसका प्रमुख गुण है।

बाणभट्ट की आत्मकथा की सफलता एवं सार्थकता जिन बातों पर निर्भर है, उनमें से एक बाणभट्ट की शैली का अनुकरण भी है। कादम्बरी और हर्षचरित के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि बाणभट्ट ने तीन प्रकार की शैली का प्रयोग किया है। ये तीनों प्रकार हर्षचरित की ही विशेषता हो, ऐसी बात नहीं है; कादम्बरी की भी विशेषता है। कादम्बरी की भाषा अधिक प्रांजल, रसप्रदायिनी तथा काव्यात्मक है। इन ग्रन्थों में बाण की शैली या एक प्रकार तो वह है जिसमें आडम्बरपूर्ण समासबाहुल्य लंबे-लंबे वाक्यों का बाहुल्य है, दूसरी शैली छोटे-छोटे समासों वाली है और तीसरी समासों से रहित है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ये तीनों शैलियाँ मिलती हैं। प्रथम शैली का अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से कर सकते हैं—

"जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं, जिनकी खरतर असि-धारा-धारासिक्तों में शत-पार्थिव-स्रोते पार्थिव फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये, जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड दाम्भिकों का इस प्रकार दाह डाला, जैसे क्रीड़ा-परायण शिशु इक्षुदण्ड का तोड़ देते हैं और जिनकी ऊर्जित दीप्त कीर्तिवह्नि में प्रत्यन्त-सामन्त स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं।"

"मद्दिनी ही थी—आगुल्फ आच्छादित नील आवरण म से उनका मनोहर मुख भाँपुना रमणीय दिखाई दे रहा था, मानो ज्योत्स्ना-रूप धवल मन्दाकिनी-धारा मे बहते हुए शैवाल-जाल म उलझा हुआ प्रफुल्ल कमल हो, क्षीरसागर मे सतरण करती हुई नील-वसना पद्मा हो, कैलास-पर्वत पर खिली हुई सपुष्पा-दमनक यष्टि हो, नील-मेघ मडल मे झलकनेवाली स्थिर सौदामिनी हो।"

"आकाश के नक्षत्रो ! साक्षी रहना, बाणभट्ट पथ-भ्रान्त प्रकर्मा नही है, छिन्न-रज्जु प्रनड्वान् की भाँति अनर्गलचारी नही है, केदारोत्पाटित दूर्वादल की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त हतभाग्य नहीं है, वन मे खिलकर मुरझाजाने वाले जगली फूल की भाँति निष्फलजन्मा नही है, क्षुरक्षुण्ण धूलिकण के समान आश्रयहीन नहीं है, मरुकान्तार मे सूख जाने वाली नदी के समान आश्रयहीन नही है"

उक्त तीनो उदाहरणो म सम्पूर्ण वाक्य अनेक उपवाक्यो से आपूरित हैं जिनमे समासो की छटा देखने योग्य है। ऐसे वाक्यो और समासो का प्रयोग आत्मकथाकार ने अनेक वर्णनो मे किया है। आत्मकथा के वर्णनो की प्रमुख विशेषता ही यह है कि वे समासो से उद्वेलित दीख पडते हैं। कही कहीं चरित्र-वर्णना मे भी इसी शैली का उपयोग मिलता है। तीसरा उदाहरण इसका प्रमाण है।

दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग आत्मकथाकार कही भी कर लेता है। उसमे समास हैं, किन्तु उनमे आडम्बर नही है। वाक्य भी छोटे छोटे हैं, अनेक उपवाक्यो से वे सुदीर्घ नही होते। लेखक अपनी बात को एक ही वाक्य मे पूर्ण कर लेता है। इस शैली मे मस्ती है। उदाहरण देखिये—

"धावक चटुल जीवन्त परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अंगराग से उपलिप्त उसके वक्ष स्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था, भुजमूलो मे नकुला का मनोहर वलय बडी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए धूपित केशो के पिछले भाग में दुर्लभ जाती कुसुमों का गुच्छ बडा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने मे उसने बडी निर्दयता का परिचय दिया था। न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रो पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका वाग्विरोध नही कर सके थे। वह मुँह का ऊपर उठाकर अधरोष्ठ को आकाश के समानान्तर करके बोल रहा था, फिरभी निर्बाध अनर्गल कवित्व धारा इस प्रकार बरस रही थी, मानो कोई ऊर्ध्वमुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो।"

इस शैली में समासो का अभाव नही है, किन्तु पहले प्रकार की सी शैली का आडम्बर भी नही है। वाक्यो की दीर्घता स्वाभाविक है। व्यंग्यो मे मिलकर मस्ती मानो झूम रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सामने उनका कोई बनारसी मित्र खडा हो और वे उसी का 'फोटो' खीच रहे हो।

तीसरी शैली मे समासो का एकान्ताभाव तो होता नहीं है, किन्तु पहली और

दूसरी शैली की भांति बहुलता और लंबे लंबे वाक्य नहीं होते। ऐसे वाक्यों में शब्द बड़े चटुल होते हैं और प्रत्येक शब्द, विशेषतः विशेषण, अपने स्थान पर फुदकता प्रतीत होता है। विशेषणों के पीछे मनोविज्ञान की शक्ति काम करती है और कभी कभी अभिधेतर शक्ति का बल पाकर वे बड़े दीप्त दीख पड़ते हैं। नीचे के उद्धरण इसी शैली को व्यक्त करते हैं—

(१) "उनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है, इसीलिए वे कटाक्ष पर ढह जाते हैं, एक स्मित पर बिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भांति अनित्य हैं। वे सैकत सेतु की भांति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भांति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियां अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता, तब तक उनमें निषेध-रूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।"

(२) "मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के संवेदन का लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते होगया और मैं हतसंज्ञ, निश्चेष्ट बैठ रहा। भट्टिनी को जानुपात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश सा हुआ। मैं तड़फड़ा कर उठ पड़ा। 'क्या कह रही हो, देवि! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है, उसीको प्रमाण मान कर मुझे अपराधी बना रही हो!"

प्राचीन परिभाषा में पहली शैली को 'उत्कलिका' या 'दण्डक' कहा जा सकता है और दूसरी को, जो अल्पसमासयुक्त एवं बहुत बड़े-बड़े वाक्योंवाली नहीं है, 'चूर्णक' अभिधा दी जा सकती है। तीसरी शैली की शब्दावली स्वतन्त्र फुदकते हुए पक्षियों की भांति कलरव करती हुई जान पड़ती है। यह 'सहज' शैली है। एकमें प्रदर्शन-प्रवृत्ति, दूसरी में मोहक प्रेषणीयता और तीसरी में सहजाभिव्यक्ति है।

यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा में टकसाली शब्दों का (उर्दू-फारसी के भी) प्रयोग मिलता है, किन्तु उनमें केवल अनुवादक ही सामने आता है, बाण नहीं। वस्तुतः तत्सम-बाहुल्य और संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की विशेषता है। लेखक ने शब्द का अंग-भंग कहीं नहीं होने दिया। शब्दों का प्रयोग बड़ी मुक्तता से किया गया है। यह ठीक है कि लेखक पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है, किन्तु यह भी ठीक है कि तत्सम शब्दावली के प्रयोग में सामान्यतया उसे आयास नहीं करना पड़ा। तीसरे प्रकार की शैली में आये हुए शब्द यही आभास देते हैं कि उनपर लेखक का पूर्ण अधिकार है और प्रत्येक शब्द उसके संकेत से यथास्थान बैठता चला जाता है मानों वह पूर्वप्रशिक्षित हो।

यदि यह ठीक है कि शैली में शैलीकार का साक्षात्कार किया जासकता है तो

यह भी ठीक है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे आचार्य द्विवेदी के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। बाण के व्यक्तित्व मे आचार्यजी का व्यक्तित्व, उसके आदर्श मे उनका आदर्श, उसके निश्चिन्त आचरण मे उनका आचरण, उसके स्वभाव म उनका स्वभाव और उसके व्यग्यो मे उनके व्यग्य सन्निहित हैं। सस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार बाण का था, वैसा ही हिन्दी भाषा पर आचार्यजी का है। बाण की भाषा बडा मादक थी, किन्तु आचार्यजी की भाषा और भी अधिक मादक है और उसका कारण है भाषा की मनोवैज्ञानिक भूमिका।

आचार्यजी की भाषा खडी बोली है और खडी बोली मे तत्सम-शब्दावली को आत्मसात् करने की बडी क्षमता होती है, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा ने तत्सम शब्दावली को जिस प्रकार स्वायत्त किया है उसीसे तो उसकी 'बाणीयता' प्रमाणित सी होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसका स्वर कई स्थानो पर व्यक्तिपरक तथा ध्वनि मनोवैज्ञानिक है। बाण की भाषा अधिकाशत अपनी वस्तुपरकता के लिए ही प्रशस्त है। सामान्यतया इतने प्रचुर एव पृथुल वर्णना मे आत्मपरकता का निर्वाह, असम्भव नही तो, अतिदुष्कर अवश्य होता है, किन्तु डा० हजारीप्रसादजी ने दुष्कर को सुकर कर दिखाया है। एक उदाहरण देखिये—

"अपने आवास पर लौटा, तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। आते ही उन्होने मृदु तिरस्कार के साथ कहा—'इतनी देर करना ठीक नही है।' उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थी, अधरोष्ठ कु चित थे और चिबुक भारग्रस्त था स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण क्षोभ हुई थी, पर सहज आभिजात्य गौरव से उस क्रोध मे भारीपन आगया था। उसकी वाणी मे शासन का ओज था, अधिकार का स्वर था, स्नेह की मृदुता थी। मैंने ससभ्रम उत्तर दिया कि मैं दुर्ग मे ही था। क्षणभर के लिए मैं विन्तित भी हुआ। इतना क्या सह्य होगा।"

व्यग्य-स्थलो पर अधिकाशत भाषा हास्यप्रधान है और शब्दावली बडी चटुल एव ध्वनिमयी है। चडीमडप के पुजारी के वर्णन से ऐसे स्थलो पर भाषा की यह विशेषता प्रकट हो सकती है—'उन्होने बताया कि पुजारी कोई वृद्ध द्रविड साधु हैं। उनके काले काले शरीर मे शिराएँ इस प्रकार फूटी दिखाई देती हैं, मानो उन्हें जला हुआ खम्भा समझकर गिरगिट चढे हुए हो। सारा शरीर घाव के दागो से इस प्रकार भरा है, मानो अलक्ष्मी देवी ने शुभ लक्षणो को उस देह से काट-काट कर अलग कर लिया है। वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं, तो भी कानो मे ओण्ड्र-पुष्प का लटकाना नहीं भूलते। वे भक्त भी हैं, क्योकि चण्डी मन्दिर की चौखट पर सिर ठुकराते-ठुकराते उनके ललाट मे अर्बुद हो गया है। वे तांत्रिकी भी हैं, प्राय ही वृद्धा तीर्थ-यात्रिणियो पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रयोग-कुशल भी हैं, क्योकि एक बार गुप्तस्थानो की निधि दिखाने वाला कज्जल लगाकर एक आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं अपने आगे वाले

लम्बे और ऊँचे दाँतों की समान दमाने के उद्योग में अन्य दाँतों को खो चुके हैं, पर वे ऊँचे दाँत वहाँ के वहाँ हैं। वे विनोदी भी हैं, क्योंकि बालकों के पीछे एक बार ईंट लेकर दौड़ पड़े थे और लुढ़क कर गिर गये थे, जिससे होंठ कुछ कट गये हैं। उनकी विद्या का भाण्डार अक्षय है। समस्त दक्षिणापथ की सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा से कपाल में तिलक धारण करते हैं + + +।"

आचार्य जी ने लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग 'छुटकर' किया है, किन्तु यह प्रयोग उन्होंने वहीं किया है जहाँ उनकी भाषा सहज और समासहीन है। ऐसे स्थलों पर ही शब्दों में चुहल और वाक्यावली में चुस्ती है। मुहावरे, बड़े जानदार और दैनिक उपयोग के होने के कारण, टकसाली भाषा के अङ्ग बन गये हैं। इसी प्रकार का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है —

"निपुणिका की अन्तिम बात मेरे मर्म में चुभ गई।१ वह अगर पश्चात्ताप करती है, तो जिस नरक में पड़ी है,२ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा ?३ वह कुलभ्रष्टा क्यों है, उसके सद्‌गुणों का समाज में क्या मूल्य है ?४ दुर्गुणों को तो फिर भी कुछ-न-कुछ पूछ है ही। मैंने उसकी कंटरशायिनी आँखों को एक बार फिर देखा। उनमें आँसू भरे हुए थे। मैं बोला—'निउनिया तू झूठ बोलती है। तू पछता रही है, तू कष्ट में है, तू आश्रय चाहती है, तू मुझे यहाँ से हटने नहीं देना चाहती। मैं जो पहले था, वह आज भी हूँ, सारी दुनियाँ भी तुझे मेरे आश्रय से अलग नहीं कर सकती। यह दूकान अभी बन्द करदे।५ जहाँ लोग तेरी कोई बात नहीं जानते, ऐसे किसी स्थान पर शान्तिपूर्वक रह। मैं तुझे कीचड़ में छोड़ कर नहीं जा सकता।६ मेरे प्रति तेरा मोह कट गया है, यह अच्छी बात है। तू इस कालिमा-भरी नगरी के राजमार्ग को छोड़ दे। तेरी आँखें कैसी धँस-गई हैं।८ हा, अभागी, तू मुझ से भी छिपा रही है!' निपुणिका इस बार पागल हो गई।९ वह फूट-फूट कर रो पड़ी।"

भाषा में मुहावरों की शक्ति तो है ही, साथ ही उसमें एक अनूठी बनावट भी है। प्रत्येक शब्द अर्थ-गरिमा से आपूर्ण है। वह जहाँ है वहीं सजा हुआ दीखता है। एक भी शब्द के हटने-हटाने से वाक्य शिथिलता-मुक्त नहीं रह सकता। लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता से भाषा सरस हो गई है। नीचे के उद्धरण में शक्ति-चमत्कार देखा जा सकता है—

"निर्दय, तुमने दर्जनों बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं।१ जिस क्षण में अपना सर्वस्व२ लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर३ बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया।४ उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड५ हो;

१, २ + + + ९ = इस उद्धरण में इतने मुहावरे हैं।

तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु, है एक अडिग जड़ता।६ जीवन में मैंने उसके बाद बहुत दुःख झेले हैं, पर उस क्षण भर के प्रत्याख्यान७ के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ।"

अक्लिष्ट शब्दों में शक्ति का चमत्कार देखता हुआ पाठक भाषा की कसावट भी देख सकता है। भाषा में प्रसाद के साथ माधुर्य गुण का ऐसा सम्मिलन प्रायः दुर्लभ होता है। शृंगार का ऐसा पुटपाक आचार्य द्विवेदीजी के ही बश की बात है। 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि+ + + आदि वाक्यों में शृंगार अपनी तरंग का वास्तविकता प्रकट किये बिना नहीं रह सका था, किन्तु निपुणिका के उक्त वाक्यों में शृंगार वास्तविक भूमिका पर न आकर आन्दोलित सरोवर की तरंगों के समान हृदय तट से ही टकरा रहा है। यह भाषा की गरिमा नहीं तो और क्या है? सच तो यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा-शैली एक ही साथ मोहक, मादक, मधुर चटुल और प्रदर्शनमयी है। कहीं उसका एक गुण प्रधान है तो कहीं दूसरा और कहीं-कहीं गुण मिश्रण-सौष्ठव भी है। व्यंग्य यहीं तीर का प्रभाव करते हैं तो कहीं अमृत माधुर्य का। कहीं-कहीं सरल व्यंगों में भी बड़ी वक्रता दिखाई देती है और कभी कभी वक्रता संदिग्ध हो जाती है। संदिग्ध वक्रता का एक उदाहरण यह है—

"मेरे जीवन में जो कुछ घटा है, उसे जानने की क्या जरूरत है। आजकल मैं पान बेचती हूँ और छोटे राजकुल के अन्तःपुर में पान पहुँचाया करती हूँ। सब मिलाकर मैं दुःखी नहीं हूँ। तुम मेरी चिन्ता छोड़ो। जहाँ जा रहे हो, वहाँ जाओ। यदि इस नगर में रहो, तो कभी-कभी दर्शन पाने की आशा मैं अवश्य रखूँगी।"

इन वाक्यों में सरलता है, किन्तु इनके पीछे विदग्धता भी देखी जा सकती है। इनमें चुटीली वक्रिमा और तीव्रता का अनुभव न करना भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को विस्मृत करना है।

कथा-शैली मनमौजीपन से प्रारम्भ होकर तल्लीनता की ओर बढ़ती जाती है। भाषा मृदुल या जटिल ही नहीं है, वरन् प्रसंगानुरोध से रूप रंग बदलती चलती है। द्विवेदीजी की भाषा का एक पक्ष चटुलता है और दूसरा व्यावहारिकता। बीच बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों के ऊहापोह से वह अधिक अलंकृत हो गई है। भाषा की यह छटा रूप रंग, उत्सव-शोभा, प्राकृतिक दृश्य आदि के वर्णन में विशेषतया देखी जा सकती है। उद्बुद्ध कल्पना की शीतल छाया में उपमानों का वैभव अधिक आकर्षक दृष्टिगोचर होता है। कथागत प्रसंगों में विषयान्तर का समावेश लेखक की उस निबन्ध-रुचि का परिचय देता है जिसमें स्वच्छन्दता का रंग जमे बिना नहीं रह सकता। निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की सतर्कता भाव परिवर्तन के अनेक चित्रों से प्रकट होती है। यही चित्र लेखक के वर्णन कौशल के प्रमाण हैं। नूतन विषय, नूतन कथ्य, नूतन कथा-शैली, उपन्यास में नूतन नाटकीयता, नूतन प्रसंग और नूतन भाषा शैली—बाणभट्ट की आत्मकथा में सभी कुछ तो नूतन है। एक बाणभट्ट पुराना है तो क्या, उसकी पुरातनता की आधार-शिला पर जो सृष्टि की गई है उसमें नववस्तु, नवशिल्प और नवसज्जा है।

१८. कृति की विशेषताएँ

बाणभट्ट की आत्मकथा एक वर्णनप्रधान रचना है और वर्णनों का इतना प्राचुर्य है कि इसे वर्णन-कोष कहना अनुचित न होगा। प्रकृति, नगर, उत्सव, धर्म, संस्कार, कला, राजनीति आदि से सम्बन्धित वर्णन इतने अधिक हैं कि कई बार उनकी प्रचुरता में कथा का जटिल सूत्र खो जाता है, फिर भी वर्णन पाठक के मन में ऊब पैदा करने वाले नहीं हैं। कला के कोमल, मधुर और मोहक स्पर्श ने उन्हें इतना भव्य बना दिया है कि मन उनमें रम बिना नहीं रहता। इनके अतिरिक्त वर्णनों की एक विशेषता यह भी है कि वे उपयुक्त स्थान पाकर कृतकृत्य हो गये हैं। यह ठीक है कि वे संस्कृत ग्रन्थों की सम्पत्ति हैं, वे दीर्घकाय हैं, वे कथा के सहज प्रवाह को रोक कर स्थित हैं, फिर भी वे कथा में इस प्रकार व्यवस्थित हो गये हैं कि वे अपने अपने स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन कथा-सौन्दर्य को बिगाड़े बिना नहीं किया जा सकता। वे जिन स्थानों पर व्यवस्थित हैं वे उनकी प्रकृति के अनुरूप हैं। उस स्थान का वातावरण उनके स्वभाव के अनुकूल है। ये वर्णन स्थिति और परिस्थिति को कहीं प्रस्तुत करते हैं, कहीं सजाते हैं और कहीं उनकी व्याख्या करके उनके रहस्यों की व्याख्या और मीमांसा करते हैं।

इस रचना की दूसरी विशेषता नारी-पात्रों का प्राधान्य है। जिस प्रकार प्रमुख कथा अनेक वर्णनों और प्रसंगों के योग से पुष्ट एवं पीन दिखाई पड़ती है उसी प्रकार प्रमुख पात्र (बाण) का चरित्र अनेक नारी-पात्रों के संदर्भ में दीप्ति एवं कान्ति प्राप्त करता है। राज्यश्री की नगण्य पात्रता को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख नारी-पात्र कल्पित हैं। ऐसी बात नहीं है कि अनेक नारी-पात्रों का सम्पर्क केवल बाण से है, किन्तु प्रायः सभी नारियाँ प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः बाण के चरित्र की उदारता और भास्वरता को प्रकट करने में अपना अपना योग देती हैं। वे एक ओर तो बाण को दूसरे पुरुष पात्रों की तुलना में गौरव प्रदान करती हैं और दूसरी ओर नारी-जीवन के विविध दुर्बल एवं हीन पक्ष को पाठकों के सामने ला देती हैं। निपुणिका, भट्टिनी और सुचरिता के अतिरिक्त चारुस्मिता का 'पार्ट' भी अपने पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ अर्पित कर देता है।

शृंगार के प्रचुर उपकरण होते हुए भी रतिभाव कभी भी अनुभावों के मार्ग से अभिव्यक्त होता नहीं देखा जाता। भाव का उस समय तक पता नहीं चल सकता जब तक कि वह अनुभाव का मार्ग स्वीकार न करले। वाचिक और कायिक अनुभाव ही स्पष्ट-भाव-सूचना के माध्यम हैं। 'सात्त्विक' भाव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए निर्दन

सिद्ध होता है। कभी-कभी तो 'सात्विक' भाव के सम्बन्ध मे केवल भ्रम जाग्रत कर देता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में निपुणिका और भट्टिनी के सात्विको से कभी-कभी ऐसे ही भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। भट्टिनी के सात्विक भाव मे ऐसे भ्रम के लिए अवकाश देखिये —

'उनका गला रुँधा हुआ था, हरिकातर थी, और करतल स्वेदधारा से आर्द्र था। मुझ मे तब भी उठने की शक्ति नही थी। मैंने आँखें मूँदली और भट्टिनी की स्नेह-मेदुर मुखश्री का ध्यान करने लगा।" ऐसा ही एक उदाहरण निपुणिका के सम्बन्ध से देखिये—

"निपुणिका पर-कटे पक्षी की भांति मेरे चरणो पर लोट गई। +++। निपुणिका अपनी संज्ञाहीन अवस्था में भी कसकर मेरा पैर पकडे रही। बडा कठोर बंधन था वह। मैंने भट्टिनी को देखकर माध्वसवश उठने लगा पर उस बन्धन ने मेरी चेष्टा में बाधा दी।"

इसी प्रकार के उदाहरण बाण के सम्बन्ध में भी दिये जा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रेम को दिशा बदलने के लिए पर्याप्त अवसर मिलते हैं, किन्तु उसमे कलुष कभी नही आता। विश्लेषण और व्याख्या की किसी सीमा मे 'आत्मकथा' का प्रेम आविल नही होता। जिस दिशा में हिन्दी-उपन्यास चल रहा है अथवा जो मार्ग अधिकाश हिन्दी उपन्यासकारो ने स्वीकार कर रखा है वह आत्मकथा के लेखक को स्वीकार नही है। आत्मकथा मे प्रेम है, किन्तु वासना से अनाविल है, प्रेम-सम्बन्ध है किन्तु औदार्यमय है। सच तो यह है कि 'आत्मकथा' अपने मूल प्रवाह मे 'उदात्त-प्रेम-कथा है।

इसकी इतर विशेषता इसके स्वरूप की है। 'आत्मकथा' के प्रकाश में आते ही बहुत दिनो तक तो यही विवाद चलता रहा कि "यह 'आत्मकथा' नहीं है।" कुछ विद्वान् इसके कथामुख की वास्तविकता को या उसके आशय को न समझ कर इस कृति को 'बाणभट्ट' की कृति ही मानते रहे, किन्तु पुन पुन. चिन्तन और मनन करने पर विद्वानो की धारणा में परिवर्तन होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इतने पर भी स्वरूप निर्णय के सम्बन्ध मे सन्देह की स्थिति बनी ही रही। जैसे-जैसे कथामुख और उपसंहार के भावो की गहराई मे बुद्धि ने उतरने का उपक्रम किया वैसे-वैसे इस कृति का स्वरूप अनावृत होने लगा। आज इसकी औपन्यासिकता सिद्ध हो चुकी है, किन्तु यह सामान्य उपन्यासों से भिन्न है। इसका आत्मकथात्मक रूप इसकी विशेषता नहीं है, इसकी विशेषता है इतिहास की नींव पर खड़ी हुई 'आत्मकथा', उस व्यक्ति की आत्मकथा जिसकी कोई कृति

अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकती। इतिहास, आत्मकथा, उपन्यास, प्रेम-कथा, कल्पनालोक, कहानी आदि अनेक रूपों की सम्मिलित झाँकियाँ पाने के लिए इस कृति में पर्याप्त अवकाश है, फिर भी यह सिद्ध है कि यह आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है जिस पर रोमांस का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

'आत्मकथा' में बाण-विषयक रूप-चित्र संस्कृत से भिन्न है। संस्कृत-साहित्य का बाण अपने चरित्र को उज्ज्वल रूप में व्यक्त नहीं कर सका है। जैसे ही वह हर्ष का राजकवि बनता है, उसकी जीवनचर्या परिवर्तित हो जाती है, किन्तु आत्मकथा में बाण का लम्पटत्व असिद्ध ही रहता है, प्रत्युत वह एक महान् कलाकार और महापुरुष के रूप में ही अपने चरित्र और स्वभाव को सिद्ध करता है। ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ इस सन्देह का अवसर मिलता है, किन्तु इधर-उधर के आवरण की भूमिका पर आकर संदेह की बालुका-भित्ति सहसा ढह जाती है। यह बड़े विस्मय की बात है कि जो व्यक्ति इतना बड़ा कलाकार है, जो अविवाहित है और जिसका यौवन—आकर्षक व्यक्तित्व, प्रतिपल परीक्षा-क्षण अर्पित करता है, वह आत्मकथा में इतना संयत, संतुलित, उदार, सहृदय, प्रेमी और न जाने क्या-क्या एक ही साथ बना रहता है। उसके चरित्र में कोई धब्बा भी तो सिद्ध नहीं हो पाता है, उसके प्रेमाचार में कहीं भी तो दुर्गन्ध नहीं आ पाती। बाण का यही चरित्र अर्पित करने के लिए लेखक का प्रयास हुआ है और उसमें वह पूर्णतः सफल हुआ है।

यों तो साहित्य की विशेषता कुतूहल की सृष्टि करना है, किन्तु प्रबन्ध रचनाओं में तो इस कुतूहल की अन्तःसलिला बहनी ही चाहिये। जब तक रचना कुतूहल की सृष्टि और सवाद का साथ रहती है तब तक उसकी सफलता अक्षुण्ण रहती है। बाणभट्ट की 'आत्मकथा' कुतूहल की अनेक परिस्थितियों से आपूर्ण है। बाण, निपुणिका और भट्टिनी का सम्बन्ध कुतूहल की धारा को बहाता हुआ भी अनेक परिस्थितियों में अतिरिक्त कुतूहल प्रस्तुत करता है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के विविध पक्ष कुतूहल को नये-नये आकार देते दिखाई देते हैं। इसीलिए वर्णनों की प्रचुरता और प्रचुलता में भी—कथाप्रवाह से विच्छिन्न होकर भी पाठक की रुचि कुतूहल के संबल से जीवित एवं पुष्ट बनी रहती है।

जिस प्रकार आत्मकथा के प्राणों में कुतूहल प्रविष्ट है उसी प्रकार आत्मकथा के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, और धार्मिक वातावरण में नारी-जीवन शापित या गर्हित ही रहा है। बहुत कम कलाकारों ने नारी के महत्त्व को समझा-समझाया है। आधुनिक युग में भारत के विविध आन्दोलनों में नारी ने जो योग दिया उसका सामा-

जिक महत्व अविस्मरणीय है। उसके योग देते ही पुरुष को अपने अहंकार का खोखलापन प्रतीत हुआ और उसने यह महसूस किया कि समाज की गाड़ी नारी के सहयोग के बिना चल नहीं सकती है। इधर टाल्स्टाय के 'मानवतावाद' ने भारतीय विचार-धारा में एक क्रान्ति पैदा की और गांधी आदि नेताओं ने पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त की। परिवर्तन की इस लहर का न तो सामना किया जा सकता था और न सामना करना कोई बुद्धिमत्ता की बात थी, अतएव मानवतावाद के अन्तराल में नारी के स्वरूप, महत्व और उसकी अनेक समस्याओं को भी निरखा-परखा गया। कुछ तो पुरुष ने नारी को समझने का प्रयत्न किया और कुछ उसने पुरुष को समझाया। बस, फिर क्या था! नारी उठी, उसने क्रान्ति का झंडा उठाया और पुरुष के साथ सामानाधिकार का दावा करके वह अपनी समस्या को सुलझाती हुई देश की समस्या के हल खोजने में अपना योग देने लगी।

आचार्य द्विवेदी ने कुछ तो अपने स्वभाव के कारण, कुछ चारित्रिक शालीनता के कारण और कुछ देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप नारी को प्रकाश में लाने और उसके अन्तर की कान्ति को चमकाने की विलक्षण, किन्तु सफल, चेष्टा की। लेखक ने पुरुष के वैराग्य की दुर्बलता बतलाते हुए जीवन-साधना में नारी के सहयोग को बड़े कौशल से सिद्ध किया। मध्यकाल में नारी के प्रति जो घृणा पैदा करदी गई थी उसे उच्छिन्न करने में लेखक ने बहुत बड़ा साहित्यिक योग दिया। इस योग की विशेषता यह रही कि दूसरे साहित्यकारों ने अधिकांशतः नारी की दुर्बलता, दयनीयता आदि को व्यक्त करना ही बस समझा; किन्तु लेखक ने नारी के पावन स्वरूप और उसके महत्व पर भी प्रकाश डाला। इससे न केवल पाठक की करुणा उद्बुद्ध हुई, वरन् नारी के प्रति उसकी श्रद्धा और आस्था भी जाग्रत हुई। नारी को काम-केलि का खिलौना न कहकर आचार्य द्विवेदी ने उसे वन्दनीय बना दिया और नारी के शरीर में देव-मन्दिर की आस्था घर करने लगी। लेखक ने नारी में प्रेम के महान् देवता को प्रतिष्ठित करके आधुनिक लेखकों और साहित्यकारों को ही नहीं, वरन् अपने पाठकों को जीवन की एक निगूढ़ निधि एक नई दिशा से अवगत कराया।

प्रायः यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य में देश-प्रेम की लहर कहीं-न-कहीं मिल ही जाती है। मैं इस उक्ति या सिद्धान्त से सहमत नहीं हूँ। न तो प्रत्येक रचना में देश-प्रेम मिलता है और न प्रत्येक रचयिता देश-प्रेमी होता है। इसके अतिरिक्त देश-प्रेमी होना एक बात है और देश प्रेम से उद्वेलित रचना लिखना दूसरी बात है। दोनों के संबंध की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती है। फिर भी जो देश-प्रेमी साहित्यकार हैं उनकी कृतियों में देश-प्रेम का मिलना स्वाभाविक बात है।

साहित्य में देश-प्रेम किसी न किसी मात्रा में पाया तो प्रत्येक युगमें गया है, किन्तु उसके स्वरूप में भेद मिलता है, उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में भेद मिलता है। देश-प्रेम की नई झलक, देश-भक्ति की एक नई चेतना भारतेन्दु-काल में ही प्रकट हो गई थी, किन्तु समय की गति के साथ उस चेतना में विकास होता गया। जैसे-जैसे विदेशी सत्ता अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए भारतीय जनता को दुर्बल और असहाय बनाने का प्रयत्न करने लगी वैसे-वैसे चेतना को उद्बोधन और विकास मिलता चला गया। एक समय ऐसा आया कि देश के कर्णधारों ने विदेशी सत्ता से लोहा लेने का व्रत ले लिया। कांग्रेस ने आन्दोलन छेड़ दिया और असहयोग के साथ देश के कोने-कोने में प्रचारात्मक उद्घोष फैला दिया। देश के भू-भाग, प्राकृतिक दृश्य तथा ग्राम साहित्यिक अंग बनने लग गये और प्राचीन भारत का गौरवमय इतिहास साहित्य के माध्यम से देश की जनता में जागृति और स्फूर्ति उद्वेलित करने लग गया। कहानियों, उपन्यासों, निबन्धों और नाटकों के अतिरिक्त कविता ने जन-जागरण की दिशा में बड़ी दृढ़ता से कदम उठाया।

इस समय के साहित्य के भी दो रूप थे—क्रान्तिकारी साहित्य तथा उद्बोधनकारी साहित्य। जिन साहित्यकारों ने अपने को देशार्पित कर दिया वे क्रान्तिकारी सर्जना में जुटे रहे और जो सन्तुलन के साथ देशप्रेम को दर्शाने और देश की परिस्थितियों का रूप-चित्रण सामने प्रस्तुत करने में लगे रहे, वे वस्तुतः सृजनशील साहित्यकार थे। वे देश-प्रेम में निमग्न अवश्य थे, किन्तु साहित्य से दूर जाकर नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही साहित्यकार हैं जो स्वतंत्रता से पूर्व देश-प्रेम की लहर को उद्वेलित करने के लिए लालायित थे और 'आत्मकथा' जैसी रचना के माध्यम से उन्होंने इतिहास की गाँठ खोलकर वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप सामग्री संकलित करने की प्रेरणा दी। देश पर संकट आने के समय देश के प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य उसके उद्धार के लिए जुट जाना है। वेतन-भोगी सेना के भरोसे देश को संकट के हाथों सौंप देना देश-प्रेम का कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे समय बच्चे-बच्चे का देश की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय का आदमी देश की रक्षा के लिए उपयोगी बन सकता है। इस प्रकार 'आत्मकथा' के लेखक ने समाज की दृष्टि को बदलने का अपूर्व प्रयत्न किया।

स्वतंत्रता से पूर्व इस कृति के सृजन-काल में देश में सामन्तयुग की सभी दुर्बलताएँ उपस्थित थीं। सामन्तों के 'रावलों' में नारियों की दशा दयनीय थी। उनकी मैवक-सेविकाओं की दशा पर कठोरता भी आँसू बहाती थी। किसानों और श्रमिकों को सुख नहीं था। परिश्रम की भट्टी में तप-तप कर भी उनकी भाग्य की शीतलता नहीं मिल सकती थी।

सामन्तलोग नारियों को अपहृत कर ले आते थे और उनके सतीत्व को भ्रष्ट

करने के लिए उन्हें यम-यातनाएँ दी जाती थी। सामन्तो के रावलो मे उनको बन्दी की भाँति रखकर उन पर कठोर प्रतिबन्ध रखा जाता था। अनेक उज्ज्वल चरित्र वाली कुल-वधुएँ अपने सतीत्व को अर्पित करने के लिए विवश हो जाती थी। न जाने कितनी भट्टिनियाँ सामन्तो के प्रासादो मे कारा-भोग कर रही थी, किन्तु निपुणिका और बाण के समान उदार और त्यागी नर-नारी बहुत कम दृष्टिगोचर होते थे। इन परिस्थियो को सामने लाने तथा इनकी मुक्ति का उपाय सुझाने के प्रयत्नो ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक अपूर्व कृति बना दिया है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त 'आत्मकथा' की एक विशेषता यह है कि उसे भारतीय ललितकलाओ की व्याख्या और उपयोगिता को प्रकट करने मे अमोघ सफलता मिली है। कादम्बरी और हर्षचरित ने कलाओं का जो रूप अनावृत किया था उसको बडी कुशलता से 'आत्मकथा' ने उद्घाटित या रूपायित किया है। अतएव कलाओ के संलिष्टरूप को सामने लाने और उनको आदर दिलाने की दृष्टि से लेखक ने उनके रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है।

❀

१६. कृतिकार की औपन्यासिक सिद्धियाँ

साहित्यिक सर्जना अधिकांशतः गद्य और पद्य, दो ही शैलियों में होती है, किन्तु इन दोनों का एक मिश्ररूप भी प्रचलित रहा है जो चंपू नाम से अभिहित रहा है। गद्य और पद्य स्पष्टतः दो भिन्न शैलियां हैं, किन्तु चंपू को दोनों का सामान्य मिश्रण समझ लेना भ्रम होगा। कहीं और कभी भी गद्य के बाद पद्य की स्थिति किसी भी रचना को चम्पू नहीं बना देती। यदि ऐसा होता तो प्राचीन संस्कृत नाटक अथवा आज का नाटक भी, जिसमें पद्य का समावेश होता है, चंपू की संज्ञा पा लेता, किन्तु नाटक 'चम्पू' नहीं होता है। चंपू श्रव्य काव्य होता है, दृश्य काव्य नहीं। चम्पू में स्थलों, व्यक्तियों, स्वभावों, गुण-दोषों, परिस्थितियों आदि की व्याख्या करने में लेखक का निजी अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ पात्रों का उपयोग करके कहानी और उपन्यास की भांति कथोपकथनों का आश्रय भी ले सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि चम्पूगत पद्य मर्मोद्घाटन के लिए ही प्रयुक्त होता है। पद्य में किसी कथन की पुष्टि को अतिरिक्त अवकाश मिलता है, और एक पद्य का संकेत दूसरे पद्य के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करता है। इन सब पद्यों का निचोड़ अन्तिम पद्य में निहित रहता है जो आरम्भ के साथ अपना निकटतम सम्बन्ध जोड़े बिना नहीं रह सकता। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि आरम्भ और अन्त कथा-सूत्र से सम्बद्ध रहते हैं। यह सम्बन्ध यद्यपि गद्य के द्वारा ही प्रमुखतः स्थापित होता है, किन्तु पद्य-भाग उसको शक्ति देकर बढ़ाने में बड़ा योग देता है। इस प्रकार गद्य और पद्य से चम्पू का भेद स्पष्ट है।

यों तो गद्य और पद्य दोनों ही अभिव्यक्ति की शैलियां रही हैं, किन्तु गद्य की व्यावहारिकता भुलाई नहीं जा सकती। गद्य और पद्य दोनों ही जीवन को धारण करके साकार होते हैं, किन्तु पद्य में जीवन की व्याख्या को किसी न किसी स्तर पर परिमिति स्वीकार करनी ही पड़ती है। इसके अतिरिक्त उत्तम काव्य की अभिधा पाने के लिए पद्य को लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का आश्रय भी लेना पड़ता है। गद्य भी काव्य स्तर पर आने के लिए इन शक्तियों से विरहित नहीं रह सकता, किन्तु उपन्यास, कहानी, सामान्य लेख आदि के गद्य में उनको उतना अवकाश नहीं होता जितना पद्य में होता है। इसके अतिरिक्त गद्य के ऊपर अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कोई अंकुश नहीं होता। छन्द, लय, ताल, आदि के बन्धन गद्य के स्वच्छन्द की सीमाएँ निर्धारित नहीं करते। पद्य और गद्य अपने अपने बन्धनों को छोड़कर एक दूसरे के इतने निकट आसकते हैं कि उनके भेद की अवगति दुष्कर होजाती है। सामान्यतया यह माना जाता है कि गद्य वाच्यार्थ को अपना कर केवल वस्तु के निरूपण का साधन बनता है। मेरी समझ में यह बात सर्वां-

यात- सिद्ध नहीं हो सकती। गद्य-साहित्य मे, सर्वत्र नही तो यत्र-तत्र, कुछ स्थल ऐसे भी देखे जा सकते हैं जिनमे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसे स्थलो पर गद्य को वाच्यार्थ की सीमाओ में आबद्ध नही किया जा सकता और फिर उस पर वस्तु-परकता आरोपित नहीं की जा सकती। भावात्मक या व्यक्तिपरक गद्य में भी वस्तुपरकता का अवसान हो जाता है।

लय, छन्द, तुक, आदि के संयोग से पद्य साहित्य को गद्य से अलग जो मान्यता मिली हुई है, वह एक भेदक दृष्टि की सूचना देती हुई काव्य-बन्धन को स्वीकार करती है। आज यह स्वीकृति पर्यवसित होती जा रही है। नई कविता और गद्य-काव्य दोनों में पर्यवसान की दिशा का स्पष्ट संकेत मिल रहा है। गद्य मे लेखक की अभिव्यक्ति को स्वतन्त्रता रहने से और स्वतन्त्रता की पिपासा के प्रति उदग्र होने से गद्य की विधाएँ नये-नये रूप लेकर विकसित हो रही हैं।

हिन्दी-गद्य प्रमुखतः आज दो धाराओ मे रूपायित हो रहा है—प्रबन्धात्मक गद्य और मुक्तक गद्य। प्रबन्धात्मक गद्य के दो भेद दृष्टि-गोचर होते हैं-एक कथामय और दूसरा कथाहीन। कथामय गद्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, एकाकी, नाटक, जीवनचरित, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि। कथाहीन प्रबन्धो मे विवेचन का अनुक्रम मिलने पर भी उनमे किसी कथा का आग्रह नही होता। स्थान-स्थान पर लेखक अपने कथन की पुष्टि के लिए वैयक्तिक अथवा इतर सन्दर्भों का उपयोग कर सकता है, किन्तु कथात्मक प्रबन्धक की भांति कथाहीन प्रबन्ध किसी बिन्दु विशेष पर जाकर समाप्त करने के लिए विवश नही होता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि कथात्मक प्रबन्ध एक ऐसा पुरुष है जिसके श्वासो और उच्छ्वासो की एकतानता अनिवार्य है। इसके विपरीत कथाहीन प्रबन्ध में केवल रूपात्मक सम्बन्ध की एकता उद्दिष्ट होती है।

निबन्ध, लेख, फीचर आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। फीचर, यात्रा या दृश्य-वर्णन में स्थानो को वह महत्त्व मिलता है जो कथात्मक प्रबन्ध मे नायक को मिलता है। विज्ञापन, पत्र आदि मे कभी-कभी जिस गद्य का साक्षात्कार होता है, वह मुक्तक गद्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आजकल कहानी और उपन्यास का भारी दौरदौरा है। भारत के थोड़े से हिन्दी-जानकार भी उपन्यास और कहानी का ही सबसे अधिक सम्मान करते हैं। ये विधाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी जा रही हैं और अधिकता से पढ़ी जाती हैं। अतएव प्रसार और प्रचार की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। इन दोनो मे भी सामान्य लोगो ने कहानी को, लिखने की दृष्टि से, सरलतम विधा समझ रखा है क्योंकि यह आकार में छोटी होती है। उसके लिखने मे अधिक जोर नही आता, किन्तु मैं कहानी-कला को उपन्यास-कला से कुछ जटिल या कठिन मानता हूँ। कहानी के छोटे पात्र में भावो को निचोड़ कर भरना

अधिक दुरूह कार्य है। इसमें उद्देश्य पर पहुँचने के लिए लेखक को बहुत थोड़ा अवकाश मिलता है और इस अवकाश में कुतूहल की व्यवस्था बड़ी दुरूह होती है। वातावरण और चरित्र को विकसित करने का अवसर कुशला के हाथों में ही मिल सकता है। उपन्यास में इनका विकास के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है। जो हो, यदि 'समय' की बात को भुला दिया जाये तो पाठक उपन्यास को ही अधिक पसंद करता है।

जहाँ लेखक आधुनिक जीवन की जटिलता और व्यस्तता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित होता है अथवा जहाँ वह हृदय की व्यस्त जटिलता को रूपायित करना चाहता है वहाँ उसका काम कहानी से नहीं चलता है। महाकाव्य और नाटक के अतिरिक्त उपन्यास ही इस काम के लिए उपयुक्त होता है।

नाटक और महाकाव्य के लिए अब तक तकनीकी कौशल की अपेक्षा रही है। इस आवश्यकता का ह्रास आज भी नहीं हुआ है। यद्यपि साहित्यिक नाटकों के विकास ने इस आवश्यकता को कुछ कम अवश्य कर दिया है, फिर भी रंगमंचीय आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। महाकाव्य के बंधन भी कुछ शिथिल हुए हैं, किन्तु हरएक व्यक्ति महाकवि होने की क्षमता नहीं रखता है। यद्यपि उपन्यासकार होना भी हर किसी के वश की बात नहीं है, फिर भी यह विधा उक्त साहित्यिक विधाओं से अधिक सुकर है। सुकरता और आवश्यकता की दृष्टि से उपन्यास प्रचार और प्रसार में अग्रगण्य है।

यद्यपि उपन्यास के विकास में पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा को भुलाया नहीं जा सकता है, किन्तु भारतीय साहित्य में 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' की परम्परा भी अविस्मरणीय है। 'कादम्बरी' और दशकुमारचरित' में वर्णनों के प्राधान्य के साथ शैली का अपना निजी वैशिष्ट्य भी था। समासों के विधान में अलंकार-योजना संस्कृत 'कथा-साहित्य' के गौरव की दुदुंभी बजाती है। वर्णन-प्राचुर्य कथा के कलेवर को विस्तार देने के अतिरिक्त वातावरण को साकार बनाने में भी योग देता था। वैसा वातावरण और वैसे वर्णन आज के कथा-साहित्य में नहीं मिलते हैं और उनके मिलने के लिए अधिक गुंजाइश भी नहीं है। युग-परिवर्तन की भूमिका में वातावरण भी परिवर्तित हो जाता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास मूल में वर्तमान की झाँकियाँ देकर ही तो अपनी महिमा बढ़ाता है।

एक और बात है जो प्राचीन 'कथा-साहित्य' को आधुनिक कथा साहित्य से भिन्न करती है और वह है 'वाद'-विनिवेश। आज के उपन्यासकार के इर्द-गिर्द जो राजनीतिक 'वाद' समाज के वातावरण को 'धुँआधार' और धाफिल बनाये हुए हैं वे उसकी कृति में भी घुस आते हैं। उपन्यास में उनके प्रवेश के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। उपन्यास के 'नायक' को लेकर जिन पात्रों से संपृक्त करता है उनके सम्बन्ध से राजनीतिक वादों के अनेक परिवश प्रस्तुत हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्यकार

अपनी कृति में अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता और उपन्यास-जैसी विधा में तो युग अपनी समग्रता में प्रस्फुटित होता है। इसलिए युग के अनेक परिपार्श्वों की हल्की-भारी झाँकियाँ अपने-अपने रूप-रंग में आविर्भूत होती हैं। इन्हीं झाँकियों में वादों का प्रकाश अथवा प्रच्छन्न रूप अवगत हो सकता है। प्राचीन कथा-साहित्य में इन राजनैतिक वादों का नाम तक नहीं था। राजनैतिक दाव-पेंच अवश्य थे, किन्तु राजनीति अनेक सिद्धान्तों के आधार पर समाज को अनेक वर्गों में विभक्त नहीं करती थी। हाँ, धर्म की विविधता राजनीति को प्रभावित अवश्य करती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म का पक्ष बहुत प्रबल रहा है, फिर भी धर्म साहित्य के अपने मूल्य को अवमानित नहीं कर पाया है। धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार को मन में रखता हुआ भी लेखक साहित्यिक उद्देश्य को निभाने में प्रमाद अथवा स्वेच्छाचारिता से काम नहीं लेता था।

आज धर्म की वह बागडोर राजनीति के हाथों से गिर गई है और राजनीति भी धर्म से प्रेरणा नहीं ले रही है। धर्मनिरपेक्ष राज्य की सैद्धान्तिक मान्यता का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा है। धर्म तिरस्कृत होकर भी विस्मृत नहीं है, किन्तु प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के भेद को स्पष्ट करने के लिए उसके ह्रास का भी मूल्य है। 'वाद' इसी ह्रास के रूप को प्रत्यक्ष करते हैं।

आज के साहित्य में मूलतः दो ही प्रकार के वाद अवगत होते हैं—राजनीतिक वाद तथा साहित्यिक वाद। 'प्रगतिवाद' स्पष्टतः राजनीतिक वाद है। यह मार्क्स के भौतिक अर्थवाद की धरा पर पला है। छायावाद और प्रयोगवाद को साहित्यिकवादों में ही गिना जाता है क्योंकि इनका संबंध मूलतः भाषा-शैली से है। 'यथार्थवाद' की धरा पर भी 'अर्थवाद' की समस्याएँ निहित हैं। व्यक्तिवाद और यौनवाद की भूमिका में मनोवैज्ञानिक आधार को नहीं भुलाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य और भी अनेक वादों से आक्रान्त है जिनसे साहित्य अपने मौलिक तथ्य का निर्वाह नहीं कर पाता है।

नये हिन्दी उपन्यास ने वादों को अपनाते हुए अपनी 'टेकनीक' में भी कुछ विकास कर लिया है। उसमें वाद प्रवाह की विशेषताएँ बहुत स्पष्ट हैं। इन वादों को राजनीति ने जन्म देकर पोषण भी किया है। इसलिए वादों का मूल कारण राजनीति है। अनेक सिद्धान्तों और मतमतान्तरों के सम्बन्ध से राजनीति अपने जितने पहलुओं में व्यक्त हो रही है, साहित्य भी उनको अपनाता चलता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि कहा जा चुका है, कुछ वाद विज्ञान या मनोविज्ञान से भी सम्बन्ध रखते हैं। फ्रायड और युग ने ऐसे वादों को जन्म देकर साहित्य के विस्तार के लिए एक बड़ी भूमिका तैयार कर दी है। कुछ वाद शुद्ध वैज्ञानिक धरा पर मनोविज्ञान से निकल पड़े हैं। साहित्य ने उनको भी अपना लिया है। महत्तवाद और व्यक्तिवाद का साहित्यिक योगाभिव्यक्ति या वर्ग की

मनोवैज्ञानिक धरा पर ही विकसित हुआ है। यदि यथार्थवाद और प्रगतिवाद में आर्थिक समस्याओं की उलझन है तो छायावाद और प्रयोगवाद में शैलीगत उलझन भी कुछ कम नहीं है। छायावाद के प्रतीक कुछ जाने पहचाने से दीखने लगे थे कि प्रयोगवाद ने अपने कदम, प्रतीकों के क्षेत्र में, बहुत आगे बढ़ा दिये। रहस्यवाद में शैलीगत विशेषता होते हुए भी एक विशेष चिन्तन-पद्धति है जो छायावाद में नहीं है। छायावाद में प्रकृति का मानवीकरण ही होता है, किन्तु रहस्यवाद में ईश्वरीकरण। ये दोनों वाद शैलीगत होते हुए भी अपनी वैज्ञानिक विशेषताओं में अपनी भिन्नता सुरक्षित रखते हैं। फ्रायड का यौनवाद साहित्य में ऐसी सैद्धान्तिक समस्या लेकर अवतीर्ण हुआ है कि उससे साहित्य की तात्विक धरा बहुत कुछ बदल गई है।

इन वादों को लेकर उपन्यास-कला ने अनेक प्रगतिया लीं हैं। उपन्यास ने अब तक इतिहास को अपनाया था, वर्तमान समाज को अपनाया था, आधुनिक मानव के हृदय और मस्तिष्क को अपनाया था और उसने अपनाया था आधुनिक विज्ञान और कला की उपलब्धियों को, किन्तु वह भूगोल का इतने आग्रह से नहीं अपना रहा था कि वह वाद-क्षेत्र में अपना स्थान बना लेता। जैसे-जैसे वैयक्तिक रुचि समाज-रुचि पर हावी होने लगी कि भूगोल भी अपने महत्त्व को लेकर साहित्य के दरबार में प्रस्तुत हुआ। उसने अन्य वादों को चुनौती दी और साहित्य ने उसे अपने क्षेत्र में स्वीकृति दी। जिस प्रकार भाषावार प्रान्तों का हुल्लड़ अथवा प्रादेशिक मोह तीव्र हुआ है उसी प्रकार साहित्य में 'आंचलिकता' का आग्रह तीव्र हुआ है। प्रारम्भ में इसका आधार साहित्यिक नवीनता की भावना रही होगी, किन्तु पश्चिम के विद्वानों का कहना है कि 'अंश में पूर्ण' को देखने दिखाने की भावना ने आंचलिक कथा साहित्य को जन्म दिया। ध्यान रखने की बात है कि आंचलिकता अनेक भूमिकाओं पर विकसित होती है। भाषा, प्राकृतिक दृश्य और रीति रिवाज तथा रहन-सहन में आंचलिकता की प्रमुख भूमिकाएँ प्रस्तुत होती हैं। वैसे तो लेखक अपनी कृति में अपनी गहन अनुभूति की अभिव्यंजना करता है और उसकी गहनतम अनुभूति उसके अपने अंचल के सम्बन्ध में ही हो सकती है। जहाँ मनुष्य जन्म लेता है, अथवा पालित-पोषित होता है वहाँ की अनुभूतियाँ उसके मानस में इतर स्थानों की अपेक्षा गहनतर होती हैं। इससे उसकी कृति में जितनी सबल अभिव्यक्ति इन अनुभूतियों की होती है, उतनी दूसरी अनुभूतियों की नहीं होती। वहाँ की भूमि, प्राकृतिक दृश्य, वहाँ के रीति रिवाज और रहन-सहन के ढंग लेखक के मानस पर अपना सिक्का जमाये रहते हैं। वहाँ की भाषा का प्रभाव भी स्थायी होता है। चाहे लेखक अनेक भाषाओं का पण्डित हो, किन्तु उसकी मातृभाषा उसका साथ देने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहती है। जहाँ अभिव्यक्ति दुर्बल होती है, उसकी भाषा अपने शब्द-कोष से लेखक की सहायता करती है। इस प्रकार आंचलिकता की भूमिकाओं का निर्माण इन तीनों बातों से हो सकता है। आज कई कथाकार तो इन तीनों का एक ही साथ उपयोग करते

है, किन्तु एक या दो का उपयोग भी आंचलिकता की प्रवृत्ति को प्रकाशित किये बिना नहीं रहता है।

यह ठीक है कि इस वाद के प्रवाह में लेखक अपनी कृति में आंचलिक विशेषताओं का अनावरण करता है। आंचलिक या प्रादेशिक भाषा या बोली तथा रीति-रिवाज को स्थान तो प्राचीन संस्कृत नाटक में भी दिया जाता था, किन्तु उपन्यास या कहानी में आया हुआ 'आंचलिकतावाद' हिन्दी में तेजी से कदम बढ़ाता आ रहा है। कथा-साहित्य इसे एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर रहा है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और बहुत बाद तक हिन्दी उपन्यासकार का ध्यान इस ओर नहीं गया। मैं नहीं कह सकता कि पश्चिम के प्रभाव ने अथवा संस्कृत नाटक के अनुकरण की भावना ने इस प्रवृत्ति को प्रेरित किया है, किन्तु प्रेरणा में दोनों दिशाओं के प्रभाव को स्वीकार कर लेना भी अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त 'आंचलिकतावाद' की रुचि के योग को भी मान्यता देनी ही पड़ेगी। जिस प्रकार देश-प्रेम की अखण्डता की रक्षा के प्रयास में स्वतन्त्रता का बीजारोपण हुआ उसी प्रकार चुनावों के ज्वर में प्रादेशिकता की भावना का उदय हुआ। साहित्य और राजनीति के सम्मिलित 'प्लेटफॉर्म' पर प्रादेशिकता उभरती चली गई जो एक ओर राजनीतिक अखाड़ा बन गई और दूसरी ओर साहित्यिक। यदि राजनीति के दाव-पेच में आकर साहित्य ने इस प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया है तो नमस्य युग-महिमा के सामने आश्चर्य की क्या बात है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'आंचलिकतावाद' की प्रवृत्ति से हिन्दी-कथा-साहित्य किस दिशा को अपनायेगा। यह आशंका है कि दिशा बदलता हुआ हिन्दी-उपन्यास इस प्रवृत्ति की भूल-भुलैयों में कहीं प्रादेशिकता की संकीर्णता में न फँस जाये। यदि ऐसा हो गया तो उससे न केवल भावात्मक एकता के प्रयत्न ही असफलता में विलीन हो जायेंगे प्रत्युत् प्रादेशिकता का अवांछनीय अभ्युत्थान भी होगा। इससे राष्ट्रभाषा की व्यापकता एवं महत्ता को आघात पहुँच सकता है। किसी स्तर पर राजनीतिक एकता को भी खतरा हो सकता है। 'विराट् को लघु में देखने का, अधिक सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति का तथा अंचल-विशेष के गौरव के बढ़ने का अवसर देकर भी 'आंचलिकतावाद' पाठक की कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ पाठक के ज्ञान-वर्धन का अवसर मिलता है वहाँ आंचलिक भाषा को समझने में सुदूर अंचल के पाठक को कठिनाई भी हो सकती है, आंचलिक मुहावरों के बीच में घिर कर किसी पाठक को ऊब या अरुचि भी पैदा हो सकती है। अंचल विशेष की विशेष सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ साहित्य में अवतीर्ण होकर पाठक की समझ के लिए कुछ समस्या पैदा कर सकती हैं।

भय है कि कथा साहित्य में 'आंचलिकता' के प्रति बढ़ती हुई ममता कहीं साहित्यिक विघटन को प्रोत्साहित न कर बैठे। यह अनुमान अनर्गल नहीं है कि हिन्दी-कथाकार, चाहे नवीनीकरण के मोह में ही सही, एक ऐतिहासिक भूल को जन्म दे रहा है जिसका

परिणाम, उसको न सही तो, उसके बाद में आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। जिस नवीनता को उपन्यासकार या कहानीकार एक वरदान के रूप में साहित्य को अर्पित कर रहा है, वह अभिशाप बन सकती है—ऐसा अभिशाप जिसके भोग से उसकी मुक्ति भी शायद ही हो पाये। उपन्यास-जैसी बड़ी विधा में प्रादेशिकता या आंचलिकता का पुट बुरा नहीं है, बुरा होगा उसका 'अत्याग्रह', जिसके अन्धकार में आंचलिक बोलियों द्वारा राष्ट्रभाषा के आक्रान्त होने की आशंका निर्मूल नहीं है।

आज का हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है। विज्ञान के प्रकाश में ऐय्यारी और तिलस्म का आकर्षण क्षीण हो गया है। जासूसी रुचि सामाजिक समस्याओं में डूब गई है। उपन्यासकार के सामने नाना प्रकार की समस्याओं का आवर्तन-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उपन्यासकार को केवल कुतूहल-वर्धन की समस्या ही नहीं सुलझानी है, वरन् जीने की समस्या विकट रूप में प्रस्तुत हो गयी है। वह एक ऐसे युग में जी रहा है, जीने की चेष्टा कर रहा है जो पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। वह केवल अपनी समस्याओं में ही उलझा हुआ नहीं है, वरन् उसके आसपास की और देश की समस्याएँ भी उसकी दृष्टि को उलझाये बिना नहीं रह रही हैं। उसका युग नयी समस्याएँ लेकर आया है और उनमें से अधिकांश व्यापक हैं। वह पिछली बातों का स्मरण केवल वर्तमान के संदर्भ में—अपने युगवातावरण के संदर्भ में ही कर सकता है, इसलिए आज के उपन्यास में चालीस-पचास वर्ष पहले के उपन्यास से भिन्न वातावरण की सृष्टि दिखाई देती है।

वातावरण का सम्बन्ध उपन्यास के उद्देश्य या विषय से भी है। देश-काल की समस्याओं का सामना करने के लिए उपन्यासकार नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है, हल की दिशा में नये संकेत दे रहा है। यह हो सकता है कि इनमें उसका एकांगी दृष्टिकोण निहित हो, किन्तु उनका मूल्य विचारणीय अवश्य है। साहित्यकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह विज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन की गुत्थी कैसे सुलझाये। एक ओर समाज के बंधन पूरी तरह टूटे नहीं हैं, अतएव वह उनमें भी उलझ रहा है और दूसरी ओर उसके सामने विज्ञान प्रलोभन दे रहा है। विज्ञान के नूतन चरण मानव-जीवन के कल्याण की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, इस पहलू पर वह लेखक नयी दृष्टि से विचार कर रहा है। कभी-कभी वर्तमान कहानीकार विज्ञान और मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के नये पहलुओं को भी प्रकाश में ला रहा है। कुण्ठाओं और कुंठाओं के ऑपरेशन की भावना से उसका लक्ष्य जिस मार्ग को अपना रहा है वहाँ से वह धुँधला दीखता है। उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आ पाती अथवा ऑपरेशन की विभीषिका उसकी दृष्टि को अस्थिर करके लक्ष्य को धुँधला बना देती है। अतएव आजकल बहुत से साहित्यकार 'लोक-मंगल' के स्वरूप का परिचय न कराके विज्ञान के भयावह रूप को ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं। इसे साहित्यिक उद्देश्य के एक पहलू

के रूप में स्वीकार करते हुए भी बोध के अभाव में सामान्य पाठक के पथ-भ्रंश की संभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

वातावरण की सृष्टि में आर्थिक समस्या भी बड़ी महत्वपूर्ण है। पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य ही वस्तुतः देश की आर्थिक समस्या के हल की दिशा है। देश के रीति-रिवाजों तक में आर्थिक समस्या निहित है। इसलिए उपन्यास इस समस्या की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्त्री-पुरुष के बीच में भी आर्थिक समस्या के झांके दिखाई दे सकते हैं। पारस्परिकता को धक्का देने वाली समस्याओं में भी इस समस्या का हाथ किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। सामाजिक आचरण के स्खलन एवं नैतिकता के भ्रंश के मूल में भी इस समस्या की दुष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी कारण आज का उपन्यास समस्या-उपन्यास का रूप लिए बिना नहीं रह सकता है।

वाद, वातावरण और उद्देश्य की नवीनता के साथ समस्याओं के सन्दर्भ की परीक्षा उपन्यास की टैक्नीक का एक महत्वपूर्ण परिपार्श्व बन गया है। उपन्यास के पात्र बदल गये हैं, उनका चरित्र बदल गया है, उनके रीति रिवाज और रहन-सहन में परिवर्तन हो गया है और उपन्यास की शैली बदल गई है। सन् १९६४ का उपन्यासकार सन् १९४५-४६ में नहीं लौट सकता। गांधीयुग और शास्त्री युग में बहुत अन्तर होगया है। इसलिए उपन्यास की टैक्नीक भी बदली है। टैक्नीक का परिवर्तन आकस्मिक नहीं है, क्रमिक है। उसमें विकास का बड़ा सूक्ष्म क्रम है। जिस प्रकार आर्थिक या वर्गिक दृष्टि से ऊँचे व्यक्ति ने प्रेमचन्दजी के हाथों से अपना महत्व खो दिया था, उसी प्रकार आज किसान और मजदूर ने भी साहित्यिक स्तर पर अपना 'सामाजिक भेद' खो दिया है। जब तक वे उपेक्षित थे तब तक साहित्यकार ने उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और जैसे ही वे ऊँचे उठ गये, उनको राजनीतिक और सामाजिक सम्मान मिल गया कि उसकी दृष्टि ने अपनी दिशा बदल दी। पात्रों के प्रति उपन्यासकार ने जो रुख अपनाया उसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त चरित्र को रूढ़ मान्यताओं के चश्मे से देखने के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों के मोड़ से नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ और चरित्र-चित्रण में नया रंग आगया। मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी वादों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। हाँ, उनको शैली का मोह अवश्य रहा है। इसी मोह के वश में होकर उन्होंने वर्णनों की ऐसी संघटना की है। उन्होंने वर्णनों में वातावरण का रङ्ग प्रस्तुत करके चरित्रांकन के लिए अवसर पेश किये हैं। जबकि आज का उपन्यासकार मार्क्स, फ्रायड, युंग, के पीछे दौड़ने का प्रयत्न करता है अथवा प्रकृतवाद, आंचलिकतावाद, मनोविज्ञानवाद, व्यक्तिवाद आदि में घूमता है, तब डॉ० द्विवेदी निर्द्वन्द्व होकर अपनी गति और अपने ढंग से चले हैं। उनका लक्ष्य किसी वाद का प्रचार करना नहीं है, अपितु समाज को एक ऐसी कृति अर्पित करना है

जो उसके ज्ञान का वर्धन भी करे और उसको मार्ग भी दिखलाये। कृति में जिस निर्द्वन्द्वता का परिचय मिलता है वह लेखक के व्यक्तित्व और आचरण की झलक है। उसमें जो दिशा पकड़ी गई है वह आदर्श की दिशा है और सत्साहित्य उसको भुलाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

उपन्यास के रूप में डा० साहब ने बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सब भर दिया है जो आज के उपन्यास की आवश्यकता है। यह बात सर्वसम्मत है कि आज का उपन्यास 'प्रेम' की नींव पर खड़ा होता है और उसके मूल का विकास अनेक दिशाओं में दिखलाया जाता है, किन्तु उन दिशाओं में समस्याएँ निहित रहती हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति अपने कौमार्य मे ही समस्याओं को 'फैशन' के रूप में ग्रहण करने की रही है। इससे कृतिकार अपनी कृति को शुद्ध आदर्श की दिशा दिखलाने में बहुधा असफल रहा है। डा० द्विवेदी ने किसी समस्या का 'फैशन' के रूप में नहीं अपनाया और न 'प्रेम' क ज्वर का तापमान देखने दिखाने का प्रयत्न ही उनका अभिप्रेत रहा है। उन्हें 'प्रेम' के सयम की दिशा प्रिय है। सयत प्रेम जीवन का सार है, असंयत प्रेम 'जीवन का ज्वर' है, मानों इसी सिद्धान्त को रूपायित करने के लिए डा० द्विवेदी ने निपुणिका और भट्टिनी की कल्पना की है।

प्रेम में वासना आ सकती है, किन्तु उसका सयत भी किया जा सकता है। वासना की लहरों का आभास देकर भी लेखक उनके उद्दाम रूप को कभी सामने नहीं लाता। सयम और कर्तव्य के गह्वर में तरगें जिस प्रकार विलीन हो जाती हैं, वही तो लेखक के आदर्श की दिशा है। लेखक चरित्र के सर्जन के लिए परिस्थितियाँ पैदा करके भी सयम और आदर्श की दिशा प्रस्तुत करता है। वह फोड़े का ऑपरेशन करके मवाद निकाल कर उसको सुखाने की चेष्टा में विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत् उसका विश्वास है कि फोड़े के आसार दीखते ही उसे बैठा दिया जाये। यही संयम का मार्ग है।

आत्मकथा को इतिहास ने वातावरण दिया है, लेखक के व्यक्तित्व ने चरित्र दिया है और आदर्श ने दिशा दी है। वातावरण, चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति अपूर्व है। आज के उपन्यास का शायद ही कोई विषय हो जो इस कृति में छूटा हो। प्रेम, यौन, धर्म, राजनीति, कला, शिक्षा, कर्तव्य, नारी, युद्ध, सामन्ती विलास, साहित्य आदि अनेक विषयों का आकलन करके आत्मकथाकार ने उपन्यास की समग्र निधि का उपयोग किया है। इन सबको प्रस्तुत करने में लेखक का निजी दृष्टिकोण रहा है। लेखक ने हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का अनुसरण न करके प्रचलित प्रवृत्तियों को दिशा दी है।

यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथासाहित्य को जो मार्ग और लक्ष्य दिया था, उसको डा० द्विवेदी ने अधिक मार्जित और स्पष्ट बनाया।

प्रेमचन्द जी के 'यथार्थ' में जो परिस्थितियाँ अनावृत हुई हैं वे आत्मकथा मे भी हुई हैं, किन्तु आत्मकथा में उन परिस्थितियो के रूप का विगलन नहीं हो पाया। पारिस्थितिक विकृति का संकेत मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ आज का 'उपन्यास' चारित्रिक-भ्रंश को परिस्थितियो के माथे मढता है वहाँ 'आत्मकथा' परिस्थितियो को चरित्र का निकष सिद्ध करती है। दृष्टि का यह अन्तर चरित्र के क्षेत्र मे आत्मकथा की बडी भारी उपलब्धि है।

यह ठीक है कि हिन्दी कथासाहित्य ने 'नारी' की स्थिति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है। प्राचीन साहित्य की तुलना म उसकी यह उपलब्धि बडी महत्त्वपूर्ण है। इसमें समाज और राजनीति का योग ही सही किन्तु मानव को मानव के रूप म देखकर दृष्टि-विषमता के परिष्कार की चेष्टा अवश्य है। हिन्दी कथाकार ने नारी के उत्पीडन का, उसके प्रति हुये अत्याचारो का बडा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया है और उसके प्रति बडी सहानुभूति भी व्यक्त की है, किन्तु उसके स्थान को निर्धारित करने मे वह पीछे रह गया है। इस अभाव की पूर्ति मानो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनी से हुई है। बाणभट्ट के मुख से नारी के शरीर को देव-मन्दिर की प्रतिष्ठा दिलवा कर डा० द्विवेदी ने नारी के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नही करवायी, वरन् उसका गौरव बढा दिया है। इससे उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि नारी 'वासनाजन्य प्रेम' की अधिकारिणी नहीं है, अपितु, अकलुष प्रेम की अधिकारिणी है। उसके सौन्दर्य, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को देव-सम्मान मिलना चाहिये।

इसमे सन्देह नहीं कि इतिहास के मार्ग मे वर्तमान को चित्रित करना एक कठिन कार्य है, किन्तु कौशल से वह सम्पन्न हो सकता है। इतिहास के पट पर चित्रित वर्तमान अधिक प्रभावशाली भी होता है। कुशलता और प्रभाव, दोनो का संश्लिष्ट रूप व्यक्त करने के लिए बाणभट्ट की आत्मकथा एक आदर्श उदाहरण है। देश और समाज के लिए साहित्यकार क्या कर सकता है, संकट के समय नारियो की क्या उपयोगिता है, क्या वैराग्य और सन्यास सामाजिक जीवन के लिए गर्हणीय हैं, क्या आधुनिक शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है, क्या युद्ध-काल मे वैतनिक सैनिको से ही विजय की आशा की जा सकती है, क्या नर-नारी के प्रेम म वासना के अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नही हो सकती, नाटको मे अभिनय करने वाली सभी नारियो को बुरी दृष्टि से क्यो देखा जाता है? आदि आदि प्रश्नों पर विचार करके लेखक ने वर्तमान समस्याओ पर विहगम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। लेखक ने प्रमुखत इन बातो पर विशेष रूप से विचार किया है—नारी, सामन्ती विलासिता, धर्म, वैष्णव धर्म, कौलाचार, बौद्धधर्म, शिक्षा-पद्धति, ज्योतिष विद्या, कलाएँ—वास्तु कला, संगीत कला, नाट्य कला, गीत, काव्य कला, भाषा, वैराग्य और सन्यास, युद्ध और वैतनिक सैनिक, राजसभा, उत्सव—राजोत्सव, प्रजोत्सव, धर्मसभाएँ तथा राजसभा में कवियो का स्थान।

डा० हजारीप्रसाद के आदर्शवाद की पीठिका में ऐतिहासिक आधार है और आधार भी ऐसा जिसमें कवि-कल्पना को आदर्श की सीमाओं में ही घूमना पड़ा है। फिर भी कल्पना ने अपने ढंग की स्वतन्त्रता से आदर्श को योग दिया है, इतिहास की भावना को स्थापित किया है। इतिहास का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि वह वर्तमान को योग देता हुआ भविष्य के रूप को ढालने की दिशा पकड़े। आत्मकथाकार ने हर्षकालीन इतिहास से बिल्कुल वही काम लिया है। यद्यपि अनेक पात्र लेखक की कल्पना के शिशु हैं, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक वातावरण को सुरक्षित रखा है। कुछ कथा, अनेक घटनाएँ काल्पनिक हैं, किन्तु उनमें वातावरणिक ऐतिहासिकता झुठलायी नहीं गई है। बाणभट्ट की आत्मकथा पढ़कर ऐसी प्रतीति नहीं होती कि पाठक हर्षयुग में नहीं है। जिस प्रकार पारस का योग पाकर लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार इतिहास के कुछ बचेखुचे तथ्यों का योग पाकर आत्मकथा के कथानक को विश्वसनीय रूप प्राप्त होगया है। इतिहास और साहित्य का यह सम्बन्ध उपन्यास के क्षेत्र में विशेष अनुकरणीय है।

इतिहास की पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर और कल्पना के विविध वर्ण ग्रहण करके भी बाणभट्ट की आत्मकथा ने अपने अन्तर में आधुनिक समस्याओं को अक्षुण्ण रखा है। लेखक के समय की समस्याएँ इतिहास के मुँह से बोल रही हैं। जो काम प्रसाद ने अपने नाटकों के सम्बन्ध से साहित्य-क्षेत्र में किया था, वही आचार्य द्विवेदी ने अपने दोनों उपन्यासों से किया है। प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार लेकर अपने युग को मार्ग दिखलाया था। द्विवेदीजी ने भी ऐसा ही किया है। बाणभट्ट लेखक का प्रिय नायक है। यह बात न केवल ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व की ही है, वरन् चारित्रिक एवं मानसिक महत्त्व की भी है। इसका विशेष महत्त्व 'उद्धार-प्रवृत्ति' में देखा जा सकता है। बाणभट्ट नहीं, ऐसा लगता है मानों द्विवेदीजी ही देशोद्धार, प्रेमोद्धार, नारी-उद्धार और धर्मोद्धार के लिए व्यग्र हैं। अपनी कृति के माध्यम से इस प्रवृत्ति को मुखरता देने में आत्मकथाकार का विराट् प्रयत्न स्तुत्य है। इसी भूमिका पर लेखक का आदर्शवाद जगमगाता है जो सत्साहित्य के लिए स्पृहणीय है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'साहित्य' अपने अर्थ को तभी निभा सकता है जब वह जीवन के लिए प्रेरणाप्रद हो। प्राणवान् साहित्य इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, इसकी सिद्धि में जो साहित्य अपनी शक्ति का उपयोग करता है उसमें आदर्श की दिशा होती है। यह ठीक है कि साहित्य जीवन को आधार बना कर निर्मित होता है, किन्तु जब वह जीवन को लक्ष्य बनाकर निर्मित होता है तो उसका मूल्य कई गुना बढ़ जाता है। डा० द्विवेदी ने 'आत्मकथा' में आधार और लक्ष्य दोनों के प्रति सतर्कता बरती है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 'जीवन' भी है और 'प्रेरणा' भी है। जीवन-तत्वों का व्यापक महत्त्व 'नवजीवन बोध' को व्यक्त करता है।

इस प्रकार औपन्यासिक तत्वों की कसौटी पर 'बाणभट्ट कीआत्मकथा' एक सफल कृति सिद्ध होती है। वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति बड़ी सम्पन्न है। कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि यह कृति वस्तु-सूत्र की क्षीणता से आपीडित है, किन्तु वे लोग वस्तु-सम्बद्ध वर्णनों को भूल जाते हैं। उन्हें वे केवल वर्णन मानकर कथा से घटा देते हैं; अतएव कल्पना और कला के संयोग से जो कथा-रूप आविर्भूत होता है उसकी स्थूलता किसी भी उपन्यास के लिए गौरवास्पद हो सकती है।

२०. कृतिकार की विशेषताएँ

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक ने यथार्थवाद और प्रगतिवाद के युग में अपनी कृति प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि आदर्शवाद अन्धी में अन्धी कथाकृति दे सकता है। लेखक ने यह भी सिद्ध कर दिया कि किसी युग व सामाजिक तत्त्व 'साहित्यिक आदर्शवाद' को विलुप्त नहीं कर सकते। वैचारिक प्रौढता और साहित्यिक कौशल की भूमिका पर सामाजिक तत्त्वों के किसी परिप्रेक्ष्य में आदर्शवाद अपना रूप सँवार सकता है। 'आत्मकथा' के लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है।

लेखक के कौशल का परिचय 'नामकरण' से ही मिल जाता है। पढ़ते ही नाम पाठकों को कथा की दिशा में आकृष्ट करता है। नाम में साहित्यिक छल का संनिवेश है, किन्तु वह कौशल से विरहित नहीं है। जिस कथा का संकेत नाम से मिलता है उसका निर्वाह अन्त तक बड़े कौशल से हुआ है। मूल कथा में छल का कोई संकेत नहीं है, किन्तु कथामुख में छल की प्रतिष्ठा बड़े कौशल से की गई है, और जिस कौशल से छल की प्रतिष्ठा की गई है उसी कौशल से उसका अनावरण भी किया गया है। कुतूहल और दार्शनिक मीमांसा की परिधि में छल की सफलता और गौरव की प्राप्ति कृतिकार के कौशल का प्रमाण है।

उपन्यासों में कथामुख और उपसंहार, दोनों की स्थिति बहुत कम देखने में आती है क्योंकि उनके लिए उपन्यासों में कोई आवश्यकता नहीं होती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इनकी स्थिति छल-कौशल से प्रेरित हुई है। कथामुख के ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—"कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिए कठिन है, फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—' अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।"

अन्तिम वाक्य इस कृति के पहचानने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अपनी 'आत्मकथा' के लिए बाणभट्ट के ये शब्द कितने उपहास्य होंगे। इससे ये शब्द अवश्य ही बाणोत्तर व्यक्ति के हैं, किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर ही रहस्य का उद्घाटन होता है अन्यथा कथामुख में रहस्य रहस्य ही बना रहता है। मूलकथा में उसके अनावृत होने की कोई गुंजाइश नहीं है। कथामुख के दो वाक्य और भी छलपूर्ण हैं—"बाणभट्ट की आत्मकथा! तब तो दीदी को अमूल्य वस्तु हाथ लगी है।" इनसे उत्पन्न कुतूहल के संवर्धन के लिए इस वाक्य का उपयोग छल और कौशल का गठबंधन प्रमाणित करता है—"इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है।" 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और

"संस्कृत साहित्य में एक अनोखी चीज' इन दोनों में कोई तालमेल न होते हुए भी उसके दिखला देने में छन्द की इतनी महिमा नहीं है जितनी कौशल की।

उपसंहार का प्रथम वाक्य ही छल सम्पन्न है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा का इतना ही अंश मिला था'—यह वाक्य 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता सिद्ध करता हुआ उपसंहार का प्रारम्भ कर रहा है। एक अन्य वाक्य भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है और वह है—"कादम्बरी की शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर-ऊपर से बहुत साम्य दिखता है।" आगे यह वाक्य विशेष ध्यान से पढ़ने योग्य है—"संस्कृत साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात सन्देहजनक भी मालूम हुई।" 'कादम्बरी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की अन्तर रेखाएँ उभरने लगी तो लेखक ने कहा—"कादम्बरी में प्रेम की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की हृप्त भावना है परन्तु इस कथा में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है।" इन अन्तर-रेखाओं से दो लेखक सामने आ जाते हैं अर्थात् 'कादम्बरी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा शैली में कुछ ऊपरी साम्य होते हुए भी विशेष अन्तर यह है कि यहाँ जिस 'डायरी'—शैली की बात की गई है 'कादम्बरी' में उसका अभाव है। दोनों रचना-शैलियों का यह अन्तर प्राचीनता और नवीनता का अन्तर भी है।

रहस्य का उद्घाटन तो तब होता है जब दीदी के ये शब्द सुनायी पड़ते हैं—"आत्मकथा के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'आटोबायोग्राफी' हो।" इस वाक्य से भ्रम का निवारण होजाना चाहिये, किन्तु बुध-जन की 'बात' में अनेक बातें सन्निहित रहती हैं, इसलिये पाठक या श्रोता उलझे बिना नहीं रहता। 'आत्मकथा' का सही अभिप्राय दीदी के इन शब्दों से व्यक्त हो जाता है—"बाणभट्ट की आत्मा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। XX उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ?" यह व्यक्त छल, यह कौशल लेखक को पाठक के अन्तर में प्रविष्ट करा देता है। वह उसकी सराहना किये बिना नहीं रहता।

इस प्रकार कथामुख और उपसंहार से लेखक ने वह काम लिया है जो हर किसी के वश की बात नहीं है। जो चीज उपन्यासों में मिलती ही नहीं उसका समावेश करके कृतिकार ने अपनी कृति को अपूर्वता प्रदान की है। बहुत थोड़े से लेखक ऐसे छल का सन्निवेश कौशल से कर पाते हैं, किन्तु इस कृति में छल ने कौशल से बड़ी भारी सहायता ली है। यदि 'आत्मकथा' को उसके पूर्ण रूप में देखें तो 'कथामुख' और 'उपसंहार' उसके अभिन्न अंग हैं।

इतिकार की कुशलता का दूसरा प्रमाण कल्पना को इतिहास की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देने से मिलता है। बाणभट्ट के सम्बन्ध में 'हर्षचरित' में कुछ ही पंक्तियाँ

तो मिलती हैं जिनमें उसके जीवन की बड़ी अपूर्ण रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। बाण के जीवन के ऐसे भग्न एवं अपूर्ण चित्र को कल्पना से पूर्ण करना और कल्पना का आभास न होने देना कौशल की बड़ी भारी सफलता है। लेखक ने एक तो थोड़ी सामग्री को ऐसा विस्तार दिया है जैसा एक कुशल धुना थोड़ी सी रुई को धुन कर देता है। कथा के अपूर्ण तंतुओं को पूर्ण करने के साथ-साथ लेखक ने कथा को फुलाया भी है और इस प्रक्रिया में बाण के नायकत्व की प्रतिष्ठा दी है। इसमें वर्णनों का जो योग है वह तो है ही, किन्तु कल्पना-शक्ति का अपरिमित योग है। नये पात्रों की कल्पना ने बाण के जीवन के परिपार्श्वों को विस्तार देकर कथा को परिपुष्ट किया है। यह कला की बड़ी भारी सिद्धि है।

बाण का चरित्र जैसा था वैसा था, किन्तु उसका मार्जन करके उसे जो रूप दिया गया है वह एक अनुलनीय सृष्टि है। बाण एक ऊँचे दर्जे का साहित्यकार है, किन्तु उसके चरित्र पर कुछ काले छींटे लगे हुए थे। इतिहास में उनके मार्जन के लिए कहीं अवकाश नहीं था, किन्तु उपन्यास की धारा पर मार्जित चरित्र की आवश्यकता ने आचार्य द्विवेदी के साहित्यकार को जो प्रेरणा दी उसने उनकी दृष्टि को उनके 'प्रिय कवि' बाण पर केन्द्रित कर दिया और उसको निष्कलुष चित्रित करने की दिशा में उनका आदर्शवाद उनकी सहायता के लिए आ जुटा। इस कार्य ने बाण को प्रकाश दिया, उसके समय के वातावरण को चमकाया और वर्तमान समस्याओं को इतिहास की क्रोड में प्रस्तुत करके उनके हल के संकेत दिये।

इतिहास का अपना मार्ग है और कल्पना का अपना। जब इतिहास कल्पना का सहारा पाने के लिए आतुर हो उठता है तब साहित्य अपने आविर्भाव की चेष्टा करने लगता है। वैसे कल्पना-शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है, किन्तु उसके उपयोग के लिए कौशल की आवश्यकता है। कल्पना का सदुपयोग कौशल की बड़ी भारी उपलब्धि है। भट्टिनी और निपुणिका के सम्पर्क में कल्पना के उपयोग की बड़ी से बड़ी प्रशस्ति कम होगी। एक ओर लेखक ने हर्ष के साथ बाण के ऐतिहासिक सम्बन्ध की रक्षा की है, दूसरी ओर बाण के जीवन में तत्कालीन वातावरण को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया है और तीसरी ओर निपुणिका और भट्टिनी के साथ बाण के निर्विकार सम्बन्धों की सृष्टि की है। कल्पना की यह उपलब्धि विस्मयकारिणी है। बाण का ऐतिहासिक स्वभाव खण्डित भी नहीं हुआ और जो बातें उसके चरित्र को कलंकित करती थीं, किन्तु इतिहास में उनका पुष्टीकरण नहीं हुआ था, वे कल्पना के हाथों से ऐसी उभरी हैं कि उनका रूप ही बदल गया है।

लेखक के हाथ में कथा के कुछ सूत्र इतिहास ने दिये हैं। उनको विस्तार देना प्रत्यक्षतः अति दुष्कर कर्म है, किन्तु कवि या साहित्यकार की क्षमता को कल्पना जानती है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' की उक्ति कल्पना के प्रांगण में ही प्रमाणित होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने ऐतिहासिक सूत्रों को लम्बाई भी दी है और

चौड़ाई भी, उनको ग्राकार भी दिया है और प्रकार भी। इसके लिए लेखक ने कुछ तो कल्पित घटनाओं से सहायता ली है और कुछ वर्णनों से। ऐतिहासिक और कल्पित घटनाओं को वर्णनों मे होकर जिस प्रकार रूपायित किया गया है वह कथा के विस्तारों मे द्रष्टव्य है।

वर्णनों के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा बनाली गई है कि वे शब्दानुवाद हैं। उनको अनुवाद कहने मे मुझे कुछ आपत्ति नही है, किन्तु उनको नितान्त शब्दानुवाद कहकर उनके अपने मूल्य की अवहेलना करना समीचीन न होगा। आत्मकथा के वर्णनों मे अधिकांशतः भाव-छाया है और भावों को भी लेखक ने अपने शब्दों मे ढाल कर अनूठा सौन्दर्य प्रदान किया है। सम्भवतः केवल भाव-छाया मे इतने सौन्दर्य की अर्पणा न होती जितने सौन्दर्य की अर्पणा वर्णनों की उपयुक्त व्यवस्था मे आविर्भूत हुई है। वर्णन बड़े-बड़े अवश्य हैं किन्तु भाषा-शैली चमत्कारपूर्ण होने से वे मोहक बन गये हैं। उनके रूप चित्र कल्पना की आँखों मे उतरते चले जाते है और पाठक उस दृश्य से सम्पृक्त होने की स्थिति की प्रतीति करता है। पाठक को इस स्थिति मे प्रस्तुत कर देना कला की अद्भुत देन है।

वर्णनों की व्यवस्था मे सूक्ष्म गवेषणा का योग अविस्मरणीय है। अनेक ग्रन्थों से वर्णनों का चयन करके उनको उपयुक्त स्थान पर 'फिट' कर देने मे अध्ययन, चयन और व्यवस्था-कौशल की गरिमा प्रशंसनीय है। लोग कहते हैं कि आत्मकथा का लेखक 'छलिया' है। मैं ऐसे छलिया का आदर करता हूँ और मानता हूँ कि कृति के नाम, कथामुख और उपसंहार मे छल से काम लेकर भी उसके छल ने कल्पना को ऐतिहासिक आसन दिया है। यदि इतिहास और कल्पना का प्रणय सिद्ध न होता तो अवैध भी होता, किन्तु कौशल ने इस सम्बन्ध का अविरल निर्वाह किया है।

बाणभट्ट के सम्बन्ध मे जो कुछ मिला है उसको हम ऐतिहासिक खण्डहर से अधिक महत्त्व नही दे सकते, किन्तु इन खण्डहरों मे लेखक ने अपने युग के जो दीप जलाये हैं उनसे वे प्राणवान् होगये हैं। ऐतिहासिक खण्डहरों और युग प्रकाश का ऐसा अटूट सम्बन्ध दिखाने की चेष्टा बहुत से साहित्यकारों ने की है, किन्तु सफलता बहुत कम को मिली है। इनमे विशेष उल्लेखनीय 'प्रसाद' और द्विवेदी जी ही हैं। 'प्रसाद' का क्षेत्र नाटक होने से उसमे शैली और वर्णनों को इतनी स्वाधीनता नही मिल सकी जितनी द्विवेदी जी को 'आत्मकथा' मे। 'आत्मकथा' के कथोपकथन भी मार्मिक हैं और वर्णन भी। वैसे द्विवेदीजी ने अपने अधिकार का विसर्जन भी किया है, किन्तु छल की आड मे। यहाँ कृतिकार के अधिकार का वह त्याग-भाव नहीं है जो प्रसाद के नाटकों मे नाटककार के अधिकार का। फिर भी द्विवेदीजी ने बाणभट्ट के मुह में रख कर अपने सभी भावों और उद्गारों को व्यक्त कर लिया है। इन उद्गारों की विशेषता भविष्य के मार्ग को चमकाने की भावना में निहित है।

इस कृति की छाया में वैष्णव धर्म की शीतल निश्वासों की अवगति बड़ी सरलता से हो सकती है। इसमें लेखक की निष्ठा का दर्शन किया जा सकता है। आचार्य द्विवेदी सब धर्मों का आदर करते हैं, इसका परिचय इस कृति में स्थान-स्थान पर मिल रहा है। हर्ष की धार्मिक आस्था भी इसी प्रकार की थी। वैष्णव धर्म के प्रचार को सामने लाकर द्विवेदी जी ने उसके इतिहास पर भी प्रकाश डाला है और अपनी धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकाशन भी किया है। इतर धर्मों का वर्णन करके लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत किया है और महामाया तथा अघोर भैरव आदि के प्रति आदर व्यक्त करके धार्मिक सहिष्णुता और आदर-भावना भी व्यक्त की है, किन्तु निपुणिका भट्टिनी, सुचरिता आदि के सम्बन्ध से जिस उपासना-पद्धति का प्रदर्शन किया है उसमें लेखक की आस्था की अभिव्यञ्जना स्पष्ट है, किन्तु इस कार्य में कहीं भी धार्मिक आग्रह की गन्ध नहीं है। अतएव यह कार्य भी कौशल-सम्पन्न है।

लेखक शैली का विशेष महत्त्व देता है। चाहे कबीर, सूरदास, अशोक के फूल आदि को लिखिये, चाहे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को अथवा 'चारुचन्द्रलेख' को, सभी में शैली की दुन्दुभी बज रही है। भाषा का प्रवाह, शब्दों का चयन, अलंकारों का प्रयोग और व्यंग्य की छटा—सभी में द्विवेदीजी का शैलीकार बोल रहा है। वर्णनों की व्यवस्था भी शैली का ही एक रूप है। सामान्यतया द्विवेदीजी अपनी शैली में कहीं भी व्यक्त हो जाते हैं, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली गजब की है। उनकी कोई कृति 'आत्मकथा' की शैली का गौरव नहीं पा सकी है। कथासूत्र और उपसंहार की व्यवस्था को भी उनकी शैली से विलग नहीं किया जा सकता। इसके आग्रह की अभिव्यक्ति 'चारुचन्द्रलेख' में भी हुई है।

द्विवेदी जी पुराने ढंग के पण्डित नहीं हैं, किन्तु संस्कृति के प्रति उनका मोह पुराने पण्डित से बिल्कुल कम नहीं है। उन्होंने भारतीय संस्कृति से ज्ञानार्जन तो किया ही है, शिष्टाचार भी सीखा है। उनकी धार्मिक आस्थाओं में भी संस्कृति की प्रेरणा स्पष्ट है। वे संस्कृति के शुद्ध रूप का आदर करते हैं, किन्तु उसके विगलन को स्वीकार करने के लिये कभी तैयार नहीं हैं। वे संस्कृति के उदार क्रोड में आचरण की शिष्टता और गुणों की परंपरा का आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं। इसीलिए उनके लक्ष्य में सद्गुणों के इतिहास की गवेषणा का प्रमुख स्थान है, किन्तु अवाञ्छनीय रूढ़ियों के इतिहास को ध्वस्त करने में भी उनकी सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। उनके साहित्यिक लक्ष्य में सांस्कृतिक चेतना का उद्बोधन भी स्पष्ट है। हर्षकालीन वातावरण की सृष्टि में ऐतिहासिक मोह और ज्ञान-प्रकाशन का जो योग है वह तो है ही, सांस्कृतिक उद्बोधन की भावना भी अविस्मरणीय है। लेखक ने अनेक प्रसंगों और वर्णनों के माध्यम से पाठक को अनेक विद्याओं और कलाओं का ज्ञान कराने की चेष्टा की है और तत्कालीन जीवन के अनेक पहलुओं का परिचय दिया है। ये सब मोती कुशलता की माला में पिरोये हुए हैं।

राजनीति को सामाजिक कल्याण और देशहित के घाट उतारने मे भी तो लेखक ने चमत्कार दिखलाया है। लेखक या कवि अपने समय की परिस्थितियो के प्रति जागरूक रहता है, वह उनमे हँस रोकर भी उनके सम्बन्ध मे गहन चिन्तन और मनन करता है, जिससे कुछ प्रश्नो के उत्तर स्फुरित होते हैं। ऐसे ही उत्तर आचार्य द्विवेदी के मानस मे अपने युग की परिस्थितियो के सम्बन्ध मे प्रस्फुरित हुए है। आचार्य जी राजनीतिज्ञ न होते हुए भी राजनीति के भयकर गह्वरो से परिचित है, व दलदल मे न फँसकर भी दलदल से निकालने का मार्ग नही जानते हैं। इसलिए उनकी प्रवृत्ति राजनीति से भागने की ही रही है। फिर भी उन्होने देश की परिस्थितियो को खुली आँखो से देखा है और अपने सुझावो को 'आत्मकथा' मे समाहित किया है। आज का राजनीतिज्ञ स्वार्थ की भूमि पर विचरण करता है, वह समाज-कल्याण की चर्चा स्वार्थ-साधना के रूप मे ही करता है। आचार्य द्विवेदी स्वार्थ और कल्याण मे निकट का सम्बन्ध मानने के लिए तैयार नही है। राजा को अपने स्वार्थ त्यागने पडते हैं और प्रजा को अपने स्वार्थ। जब दोनो के स्वार्थ का समझौता होजाता है तभी देश हित की भावना का उज्ज्वल प्रकाश होता है। विदेशी आक्रमण होते रहते हैं और लोग देखते रहते हैं। वे वैतनिक सैनिको से अपनी रक्षा की कामना करते हैं। देश रक्षा सम्मिलित प्रयत्नो से सिद्ध होती है। कोई वर्ग विशेष देश-रक्षा नही कर सकता। देश रक्षा म नर नारी दोनो का समान योग होना चाहिये। नारियाँ आपद काल मे जनता को उद्बुद्ध कर सकती हैं अच्छा प्रचार-कार्य कर सकती हैं। महामाया ने तटस्थ साधना की अवस्था म भी उद्बोधन का भार वहन किया है।

यह सब कार्य बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने बडी चतुराई से सम्पन्न किया-कराया है। लेखक की यह कुशलता, यह चतुरता साहित्य क्षेत्र म अनुकरणीय है। कभी ऐसा लगता है कि लेखक डूब रहा है और कभी लगता है कि वह जागरूक है। लेखक की ये दोनो स्थितियाँ जादू का असर करने वाली हैं। पाठक लेखक के चमत्कार पर विचार करता रह जाता है और उसकी साहित्यिक विलक्षणता मे कभी-कभी खो भी जाता है।

उपसंहार

समग्र रचना पढ़ लेने पर पाठक बड़े उत्साह और चाव से यह कह सकता है कि [illegible] न्तु उसके सामने एक प्रश्न और [illegible] ? रोमांस, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, इतिहास, काव्य, वर्णन, चरित्र-वर्णन आदि सभी का आस्वाद तो इसमें मिलता है। यह एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसमें 'प्रेम' ने अपनी आदर्श ऊँचाई का अविरल निर्वाह किया है, यह एक ऐसा 'उपन्यास' है जिसमें आत्मकथा की कला विस्मयकारिणी है और यह एक ऐसा वर्णन-कोश है जिसने धर्म, संस्कृति, नीति और सामाजिक वातावरण ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्राप्त की है।

इसे 'रोमांटिक उपन्यास' या 'औपन्यासिक रोमांस' कहने में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं देती है, किन्तु यह आंचलिक उपन्यास कदापि नहीं है। लेखक की अनेक अनुभूतियों का प्रसव 'अंचल' के गर्भ में होने के कारण उनमें आंचलिक मोह की मधुर अँगड़ाई का आभास मिल सकता है, आंचलिकता की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता भय से मुक्त नहीं है। आत्मकथा का लेखक इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। अनुभूतियों के दल में जितना आंचलिक वातावरण सुगंध प्रसारित कर सकता था यहाँ उतना ही समाविष्ट हुआ है।

यह कृति 'व्यक्तिवाद' से असम्पृक्त है। कथानायक बाणभट्ट स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वतन्त्रता से आदर्श सुरक्षित रह सकता है, किन्तु स्वेच्छाचारिता से उसका विगलन हुए बिना नहीं रह सकता। 'व्यक्तिवाद' बहुधा स्वेच्छाचारिता की भूमि पर पल्लवित होता है। बाणभट्ट आदि किसी प्रमुख पात्र के चरित्र में स्वेच्छाचारिता की तनिक भी गंध नहीं है। मनोविज्ञान का जो धरातल इस कृति को मिला है वह 'व्यक्तिवाद' से कोसों दूर है।

कला के दो स्वरूप होते हैं—अभिव्यक्ति और प्रदर्शन। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कला का प्रदर्शन नहीं है, अभिव्यक्ति मात्र है। वर्णनों में प्रदर्शन की गंध आ सकती है, किन्तु वे कृति के नाम को सार्थक करने के लिए आवश्यक थे, पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए वे अपेक्षित थे। 'आत्मकथा' की भूमिका में जिन तत्त्वों की आवश्यकता थी उनमें से 'वर्णन' भी थे। अतएव वर्णन, वर्णन के लिए नहीं हैं, अपनी उपयोगिता रखते हैं। शब्द-संचयन और वाक्य-विन्यास में भी आवश्यकता की ही प्रेरणा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है, किन्तु प्रयोगवादी रचना नहीं है। लेखक की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के पीछे जीवन के आदर्श और संस्कार हैं, ऐतिहासिक ख्यातियाँ और दार्शनिक मान्यताएँ हैं, साहित्यिक आधार हैं तथा नवीनता के कलेवर में प्राचीनता के आग्रह की प्रमुखता है जिससे तथाकथित प्रयोगवाद समर्थित नहीं होता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक गद्य रचना है, फिर भी वह काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न है। जो रचना पाठक के अन्तर में तरल भावों की सृष्टि कर दे, पाठक के मन को तत्काल अपने वश में करले, वह गद्य होते हुए भी काव्य की अभिधा पाने का अधिकार रखती है। रूढार्थ में उसे 'काव्य' भले ही न कहा जाये, किन्तु उसकी सम्पत्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार गद्य म काव्य के गुण हो सकते हैं उसी प्रकार पद्य में भी गद्य के सभी 'संस्कार' हो सकते हैं। 'आत्मकथा' की भाषा गद्य है, फिर भी काव्य गुणा से सरस बनी हुई है। इस रचना के कितने ही वर्णनों को 'गद्य-काव्य' की कोटि में प्रशस्त किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिये—

"इस घृणा और जुगुप्सा के जगत् को सुन्दर कथा नहीं बना देती, + + + + +++ करुणा के अश्रु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो अन्तःकरण को मोहित कर डालती है—यही तो भुवनमोहिनी का रूप है।"

ऐसे ही बहुत से उदाहरणों से 'आत्मकथा' को काव्य-गुण से सम्पन्न सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णनों की प्रचुरता किसी भी प्रबन्ध-रचना के कथा-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भी वर्णनों का प्राचुर्य है। पाठक को जल्दी-जल्दी एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु वर्णन-सरसता उसे ऊबने नहीं देती। बाणभट्ट की कृति सिद्ध करने के लिए कथा में बाण का सा वर्णन-प्राचुर्य और शब्द सचयन एवं संग्रथन आवश्यक था। इसलिए कृति की सफलता और नाम की सार्थकता में वर्णनों के योग को भुलाया नहीं जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रेम' मानव जीवन का प्रमुख तत्त्व है। उसके अनेक रूप हैं—उज्ज्वल और कलुषित। प्रेम का जो रूप समाज के कल्याण का साधन हो वह उज्ज्वल एवं निर्मल होता है और जो समाज को पतनोन्मुख करता है वह विगलित या कलुषित होता है। आज प्रेम की धरा पर अनेक रचनाएँ अपना रूप सँवार रही हैं, किन्तु उन सबमें कल्याणकारी प्रेम नहीं है। अनेक रचनाएँ वासना की दुर्गन्ध से ओतप्रोत हैं। उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रेम का प्रकृत रूप विनिविष्ट हो सकता है, किन्तु वह समाज का साध्य नहीं है। कलुषित प्रेम में समाज केवल फँस सकता है। प्रकृत प्रेम व्यक्ति की मानस-तरंग हो सकता है, किन्तु वह समाज के उद्धार का पथ नहीं है। संयम की सीमाओं में ही आदर्श का रूप निर्मित होता है। उसी में कल्याण की झाँकी मिलती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में संयत और आदर्श प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है, असंयत और विगलित प्रेम कथा के परकोटे में प्रविष्ट नहीं हो पाया है। यदि वह किसी झरोखे से झाँक रहा हो तो पाठक को उसकी चिन्ता भी नहीं है। प्रेम के इस स्वरूप ने प्रेम-मर्यादा के इस आदर्श ने इस कृति को 'उपन्यास-शिरोमणि' तथा 'रोमांस आदर्श' बना दिया है। युग के इस वातावरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह मणि-काञ्चन-योग साहित्य में दुर्लभ है।